अथ चतुर्थसमुल्लासारम्भः

अथ समावर्त्तनविवाहगृहाश्रमविधिं वक्ष्यामः

वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वापि यथाक्रमम्।
अविप्लुतब्रह्मचर्यो गृहस्थाश्रममाविशेत्॥ १॥ मनु०॥

जब यथावत् ब्रह्मचर्य्य आचार्यानुकूल वर्त्तकर, धर्म से चारों, तीन वा दो, अथवा एक वेद को साङ्गोपाङ्ग पढ़ के जिस का ब्रह्मचर्य खण्डित न हुआ हो, वह पुरुष वा स्त्री गृहाश्रम में प्रवेश करे॥ १॥

तं प्रतीतं स्वधर्मेण ब्रह्मदायहरं पितुः।
स्त्रग्विणं तल्प आसीनमर्हयेत्प्रथमं गवा॥ २॥ मनु०॥

जो स्वधर्म अर्थात् यथावत् आचार्य और शिष्य का धर्म है उससे युक्त पिता जनक वा अध्यापक से ब्रह्मदाय अर्थात् विद्यारूप भाग का ग्रहण और माला का धारण करने वाला अपने पलङ्ग पर बैठे हुए आचार्य्य का प्रथम गोदान से सत्कार करे। वैसे लक्षणयुक्त विद्यार्थी को भी कन्या का पिता गोदान से सत्कृत करे॥ २॥

गुरुणानुमतः स्नात्वा समावृत्तो यथाविधि।
उद्वहेत द्विजो भार्यां सवर्णां लक्षणान्विताम्॥ ३॥ मनु०॥

गुरु की आज्ञा ले स्नान कर गुरुकुल से अनुक्रमपूर्वक आ के ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अपने वर्णानुकूल सुन्दर लक्षणयुक्त कन्या से विवाह करे॥ ३॥

असपिण्डा च या मातुरसगोत्रा च या पितुः।
सा प्रशस्ता द्विजातीनां दारकर्मणि मैथुने॥ ४॥ मनु०॥

जो कन्या माता के कुल की छः पीढ़ियों में न हो और पिता के गोत्र की न हो तो उस कन्या से विवाह करना उचित है॥ ४॥ इसका यह प्रयोजन है कि–

परोक्षप्रिया इव हि देवाः प्रत्यक्षद्विषः॥ शतपथ०॥

यह निश्चित बात है कि जैसी परोक्ष पदार्थ में प्रीति होती है वैसी प्रत्यक्ष में नहीं। जैसे किसी ने मिश्री के गुण सुने हों और खाई न हो तो उसका मन उसी में लगा रहता है । जैसे किसी परोक्ष वस्तु की प्रशंसा सुनकर मिलने की उत्कट इच्छा होती है, वैसे ही दूरस्थ अर्थात् जो अपने गोत्र वा माता के कुल में निकट सम्बन्ध की न हो उसी कन्या से वर का विवाह होना चाहिये।

निकट और दूर विवाह करने में गुण ये हैं–

(१) एक–जो बालक बाल्यावस्था से निकट रहते हैं, परस्पर क्रीडा, लड़ाई और प्रेम करते, एक दूसरे के गुण, दोष, स्वभाव, बाल्यावस्था के विपरीत आचरण जानते और नङ्गे भी एक दूसरे को देखते हैं उन का परस्पर विवाह होने से प्रेम कभी नहीं हो सकता।

(२) दूसरा–जैसे पानी में पानी मिलने से विलक्षण गुण नहीं होता, वैसे एक गोत्र पितृ वा मातृकुल में विवाह होने में धातुओं के अदल-बदल नहीं होने से उन्नति नहीं होती।

और चौथे में रजस्वला हो जाती है॥ १॥ उस रजस्वला को देख के उसकी माता, पिता, भाई, मामा और बहिन सब नरक को जाते हैं॥ २॥

(प्रश्न) ये श्लोक प्रमाण नहीं।

(उत्तर) क्यों प्रमाण नहीं? जो ब्रह्मा जी के श्लोक प्रमाण नहीं तो तुम्हारे भी प्रमाण नहीं हो सकते।

(प्रश्न) वाह-वाह! पराशर और काशीनाथ का भी प्रमाण नहीं करते।

(उत्तर) वाह जी वाह ! क्या तुम ब्रह्मा जी का प्रमाण नहीं करते, पराशर काशीनाथ से ब्रह्मा जी बड़े नहीं हैं? जो तुम ब्रह्मा जी के श्लोकों को नहीं मानते तो हम भी पराशर काशीनाथ के श्लोकों को नहीं मानते।

(प्रश्न) तुम्हारे श्लोक असम्भव होने से प्रमाण नहीं, क्योंकि सहस्रों क्षण जन्म समय ही में बीत जाते हैं तो विवाह कैसे हो सकता है और उस समय विवाह करने का कुछ फल भी नहीं दीखता।

(उत्तर) जो हमारे श्लोक असम्भव हैं तो तुम्हारे भी असम्भव हैं क्योंकि आठ, नौ और दसवें वर्ष भी विवाह करना निष्फल है; क्योंकि सोलहवें वर्ष के पश्चात् चौबीसवें वर्ष पर्यन्त विवाह होने से पुरुष का वीर्य परिपक्व, शरीर बलिष्ठ, स्त्री का गर्भाशय पूरा और शरीर भी बलयुक्त होने से सन्तान उत्तम होते हैं।[१] जैसे आठवें वर्ष की कन्या में सन्तानोत्पत्ति का होना असम्भव है वैसे ही गौरी, रोहिणी नाम देना भी अयुक्त है। यदि गोरी कन्या न हो किन्तु काली हो तो उस का नाम गौरी रखना व्यर्थ है और गौरी महादेव की स्त्री, रोहिणी वसुदेव की स्त्री थी उस को तुम पौराणिक लोग मातृसमान मानते हो। जब कन्यामात्र में गौरी आदि की भावना करते हो तो फिर उन से विवाह करना कैसे सम्भव और धर्मयुक्त हो सकता है? इसलिये तुम्हारे और हमारे दो-दो श्लोक मिथ्या ही हैं क्योंकि जैसे हमने 'ब्रह्मोवाच' करके श्लोक बना लिये हैं। वैसे वे भी पराशर आदि के नाम से बना लिये हैं। इसलिये इन सब का प्रमाण छोड़ के वेदों के प्रमाण से सब काम किया करो। देखो मनु में—

त्रीणि वर्षाण्युदीक्षेत कुमार्यृतुमती सती।
ऊर्ध्वं तु कालादेतस्माद्विन्देत सदृशं पतिम्॥ मनु०॥

---

१. उचित समय से न्यून आयु वाले स्त्री पुरुष को गर्भाधान में मुनिवर धन्वन्तरि जी सुश्रुत में निषेध करते हैं-

ऊनषोडशवर्षायामप्राप्तः पञ्चविंशतिम् ।
यद्याधत्ते पुमान् गर्भं कुक्षिस्थः स विपद्यते॥ १॥
जातो वा न चिरञ्जीवेज्जीवेद्वा दुर्बलेन्द्रियः।
तस्मादत्यन्तबालायां गर्भाधानं न कारयेत्॥ २॥

अर्थ—सोलह वर्ष से न्यून वयवाली स्त्री में, पच्चीस वर्ष से न्यून आयु वाला पुरुष जो गर्भ को स्थापन करे तो वह कुक्षिस्थ हुआ गर्भ विपत्ति को प्राप्त होता अर्थात् पूर्ण काल तक गर्भाशय में रह कर उत्पन्न नहीं होता॥ १॥

अथवा उत्पन्न हो तो चिरकाल तक न जीवे वा जीवे तो दुर्बलेन्द्रिय हो। इस कारण से अति बाल्यावस्था वाली स्त्री में गर्भ स्थापित न करे॥ २॥

ऐसे-ऐसे शास्त्रोक्त नियम और सृष्टिक्रम को देखने और बुद्धि से विचारने से यही सिद्ध होता है कि १६ वर्ष से न्यून स्त्री और २५ वर्ष से न्यून आयु वाला पुरुष कभी गर्भाधान करने के योग्य नहीं होता। इन नियमों से विपरीत जो करते हैं वे दुःखभागी होते हैं।

कन्या रजस्वला हुए पीछे तीन वर्ष पर्यन्त पति की खोज करके अपने तुल्य पति को प्राप्त होवे। तब प्रतिमास रजोदर्शन होता है तो तीन वर्षों में ३६ वार रजस्वला हुए पश्चात् विवाह करना योग्य है, इससे पूर्व नहीं।

काममामरणात्तिष्ठेद् गृहे कन्यर्तुमत्यपि।
न चैवैनां प्रयच्छेत्तु गुणहीनाय कर्हिचित्॥ मनु०॥

चाहे लड़का लड़की मरणपर्यन्त कुमार रहैं परन्तु असदृश अर्थात् परस्पर विरुद्ध गुण, कर्म, स्वभाव वालों का विवाह कभी न होना चाहिये। इस से सिद्ध हुआ कि न पूर्वोक्त समय से प्रथम वा असदृशों का विवाह होना योग्य है।

(प्रश्न) विवाह माता पिता के आधीन होना चाहिये वा लड़का लड़की के आधीन रहै ?

(उत्तर) लड़का लड़की के आधीन विवाह होना उत्तम है। जो माता पिता विवाह करना कभी विचारें तो भी लड़का लड़की की प्रसन्नता के विना न होना चाहिये। क्योंकि एक दूसरे की प्रसन्नता से विवाह होने में विरोध बहुत कम होता है और सन्तान उत्तम होते हैं। अप्रसन्नता के विवाह में नित्य क्लेश ही रहता है। विवाह में मुख्य प्रयोजन वर और कन्या का है माता पिता का नहीं। क्योंकि जो उनमें परस्पर प्रसन्नता रहे तो उन्हीं को सुख और विरोध में उन्हीं को दुःख होता। और–

सन्तुष्टो भार्यया भर्त्ता भर्त्रा भार्य्या तथैव च।
यस्मिन्नेव कुले नित्यं कल्याणं तत्र वै ध्रुवम्॥ मनु०॥

जिस कुल में स्त्री से पुरुष और पुरुष से स्त्री सदा प्रसन्न रहती है उसी कुल में आनन्द लक्ष्मी और कीर्त्ति निवास करती है और जहाँ विरोध, कलह होता है वहाँ दुःख, दारिद्र्य और निन्दा निवास करती है।

इसलिये जैसी स्वयंवर की रीति आर्य्यावर्त्त में परम्परा से चली आती है वही विवाह उत्तम है। जब स्त्री पुरुष विवाह करना चाहैं तब विद्या, विनय, शील, रूप, आयु, बल, कुल, शरीर, का परिमाणादि यथायोग्य होना चाहिये। जब तक इन का मेल नहीं होता तब तक विवाह में कुछ भी सुख नहीं होता और न बाल्यावस्था में विवाह करने से सुख होता।

युवा सुवासाः परिवीत आगात्स उ श्रेयान्भवति जायमानः ।
तं धीरासः कवय उन्नयन्ति स्वाध्यो३ मनसा देवयन्तः ॥१॥

–ऋ० मं० ३। सू० ८। मं० ४॥

आ धेनवो धुनयन्तामशिश्वीः सबर्दुघाः शशया अप्रदुग्धाः ।
नव्यानव्या युवतयो भवन्तीर्महद्देवानामसुरत्वमेकम् ॥२॥

–ऋ० मं० ३। सू० ५५। मं० १६॥

पूर्वीरहं शरदः शश्रमाणा दोषावस्तोरुषसो जरयन्तीः ।
मिनाति श्रियं जरिमा तनूनामप्यू नु पत्नीर्वृषणो जगम्युः ॥३॥

–ऋ० मं० १। सू० १७९। मं० १॥

जो पुरुष (परिवीतः) सब ओर से यज्ञोपवीत, ब्रह्मचर्य्य सेवन से उत्तम शिक्षा और विद्या से युक्त (सुवासाः) सुन्दर वस्त्र धारण किया हुआ ब्रह्मचर्य्ययुक्त (युवा) पूर्ण ज्वान होके विद्याग्रहण कर गृहाश्रम में (आगात्) आता है (स उ) वही दूसरे विद्याजन्म में (जायमानः) प्रसिद्ध होकर (श्रेयान्) अतिशय शोभायुक्त मङ्गलकारी (भवति) होता है (स्वाध्यः) अच्छे प्रकार ध्यानयुक्त (मनसा) विज्ञान से (देवयन्तः) विद्यावृद्धि की कामनायुक्त (धीरासः) धैर्ययुक्त (कवयः) विद्वान् लोग (तम्) उसी पुरुष को (उन्नयन्ति) उन्नतिशील करके प्रतिष्ठित करते हैं और जो ब्रह्मचर्य्यधारण, विद्या, उत्तम शिक्षा का ग्रहण किये विना अथवा बाल्यावस्था में विवाह करते हैं वे स्त्री पुरुष नष्ट भ्रष्ट होकर विद्वानों में प्रतिष्ठा को प्राप्त नहीं होते॥ १॥

जो (अप्रदुग्धाः) किसी से दुही न हो उन (धेनवः) गौओं के समान (अशिश्वीः) बाल्यावस्था से रहित (सबर्दुघाः) सब प्रकार के उत्तम व्यवहारों का पूर्ण करनेहारी (शशयाः) कुमारावस्था को उल्लंघन करने हारी (नव्यानव्याः) नवीन-नवीन शिक्षा और अवस्था से पूर्ण (भवन्तीः) वर्त्तमान (युवतयः) पूर्ण युवावस्थास्थ स्त्रियां (देवानाम्) ब्रह्मचर्य, सुनियमों से पूर्ण विद्वानों के (एकम्) अद्वितीय (महत्) बड़े (असुरत्वम्) प्रज्ञा शास्त्रशिक्षायुक्त प्रज्ञा में रमण के भावार्थ को प्राप्त होती हुई तरुण पतियों को प्राप्त होके (आधुनयन्ताम्) गर्भ धारण करें कभी भूल के भी बाल्यावस्था में पुरुष का मन से भी ध्यान न करें क्योंकि यही कर्म इस लोक और परलोक के सुख का साधन है। बाल्यावस्था में विवाह से जितना पुरुष का नाश उस से अधिक स्त्री का नाश होता है॥ २॥

जैसे (नु) शीघ्र (शश्रमाणाः) अत्यन्त श्रम करनेहारे (वृषणः) वीर्य सींचने में समर्थ पूर्ण युवावस्थायुक्त पुरुष (पत्नीः) युवावस्थास्थ हृदयों को प्रिय स्त्रियों को (जगम्युः) प्राप्त होकर पूर्ण शतवर्ष वा उससे अधिक वर्ष आयु को आनन्द से भोगते और पुत्र पौत्रादि से संयुक्त रहते रहैं वैसे स्त्री पुरुष सदा वर्तें, जैसे (पूर्वीः) पूर्व वर्त्तमान (शरदः) शरद् ऋतुओं और (जरयन्तीः) वृद्धावस्था को प्राप्त कराने वाली (उषसः) प्रातःकाल की वेलाओं को (दोषाः) रात्री और (वस्तोः) दिन (तनूनाम्) शरीरों की (श्रियम्) शोभा को (जरिमा) अतिशय वृद्धपन बल और शोभा को (मिनाति) दूर कर देता है वैसे (अहम्) मैं स्त्री वा पुरुष (उ) अच्छे प्रकार (अपि) निश्चय करके ब्रह्मचर्य्य से विद्या शिक्षा शरीर और आत्मा के बल और युवावस्था को प्राप्त हो ही के विवाह करूँ इस से विरुद्ध करना वेदविरुद्ध होने से सुखदायक विवाह कभी नहीं होता॥ ३॥

जब तक इसी प्रकार सब ऋषि-मुनि राजा महाराजा आर्य्य लोग ब्रह्मचर्य्य से विद्या पढ़ ही के स्वयंवर विवाह करते थे तब तक इस देश की सदा उन्नति होती थी। जब से यह ब्रह्मचर्य्य से विद्या का न पढ़ना, बाल्यावस्था में पराधीन अर्थात् माता पिता के आधीन विवाह होने लगा, तब से क्रमशः आर्य्यावर्त्त देश की हानि होती चली आई है। इस से इस दुष्ट काम को छोड़ के सज्जन लोग पूर्वोक्त प्रकार से स्वयंवर विवाह किया करें। सो विवाह वर्णानुक्रम से करें और वर्णव्यवस्था भी गुण, कर्म, स्वभाव के अनुसार होनी चाहिये।

(प्रश्न) क्या जिस के माता पिता ब्राह्मण हों वह ब्राह्मणी ब्राह्मण होता है और जिसके माता पिता अन्य वर्णस्थ हों उन का सन्तान कभी ब्राह्मण हो सकता है?

(उत्तर) हां बहुत से हो गये, होते हैं और होंगे भी। जैसे छान्दोग्य उपनिषद् में जाबाल ऋषि अज्ञातकुल, महाभारत में विश्वामित्र क्षत्रिय वर्ण और मातङ्ग ऋषि चाण्डाल कुल से ब्राह्मण हो गये थे। अब भी जो उत्तम विद्या स्वभाव वाला है वही ब्राह्मण के योग्य और मूर्ख शूद्र के योग्य होता है और वैसा ही आगे भी होगा।

(प्रश्न) भला जो रज वीर्य से शरीर हुआ है वह बदल कर दूसरे वर्ण के योग्य कैसे हो सकता है।

(उत्तर) रज वीर्य्य के योग से ब्राह्मण शरीर नहीं होता किन्तु—

स्वाध्यायेन जपैर्होमैस्त्रैविद्येनेज्यया सुतैः।
महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः॥ मनु०॥

इस का अर्थ पूर्व कर आये हैं अब यहां भी संक्षेप से करते हैं। (स्वाध्यायेन) पढ़ने पढ़ाने (जपैः) विचार करने कराने नानाविध होम के अनुष्ठान, सम्पूर्ण वेदों को शब्द, अर्थ, सम्बन्ध, स्वरोच्चारणसहित पढ़ने पढ़ाने (इज्यया) पौर्णमासी, इष्टि आदि के करने, पूर्वोक्त विधिपूर्वक (सुतैः) धर्म से सन्तानोत्पत्ति (महायज्ञैश्च) पूर्वोक्त ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, वैश्वदेवयज्ञ और अतिथियज्ञ, (यज्ञैश्च) अग्निष्टोमादि-यज्ञ, विद्वानों का संग, सत्कार, सत्यभाषण, परोपकारादि सत्कर्म और सम्पूर्ण शिल्पविद्यादि पढ़ के दुष्टाचार छोड़ श्रेष्ठाचार में वर्त्तने से (इयम्) यह (तनुः) शरीर (ब्राह्मी) ब्राह्मण का (क्रियते) किया जाता है। क्या इस श्लोक को तुम नहीं मानते? मानते हैं। फिर क्यों रज वीर्य के योग से वर्णव्यवस्था मानते हो? मैं अकेला नहीं मानता किन्तु बहुत से लोग परम्परा से ऐसा ही मानते हैं।

(प्रश्न) क्या तुम परम्परा का भी खण्डन करोगे?

(उत्तर) नहीं, परन्तु तुम्हारी उलटी समझ को नहीं मान के खण्डन भी करते हैं।

(प्रश्न) हमारी उलटी और तुम्हारी सूधी समझ है इस में क्या प्रमाण?

(उत्तर) यही प्रमाण है कि जो तुम पांच सात पीढ़ियों के वर्त्तमान को सनातन व्यवहार मानते हो और हम वेद तथा सृष्टि के आरम्भ से आजपर्यन्त की परम्परा मानते हैं। देखो! जिस का पिता श्रेष्ठ उस का पुत्र दुष्ट और जिस का पुत्र श्रेष्ठ उस का पिता दुष्ट तथा कहीं दोनों श्रेष्ठ वा दुष्ट देखने में आते हैं इसलिये तुम लोग भ्रम में पड़े हो। देखो! मनु महाराज ने क्या कहा है—

येनास्य पितरो याता येन याता पितामहाः।
तेन यायात्सतां मार्गं तेन गच्छन्न रिष्यते॥ मनु०॥

जिस मार्ग से इस के पिता, पितामह चले हों उस मार्ग में सन्तान भी चलें परन्तु (सताम्) जो सत्पुरुष पिता पितामह हों उन्हीं के मार्ग में चलें और जो पिता, पितामह दुष्ट हों तो उन के मार्ग में कभी न चलें। क्योंकि उत्तम धर्मात्मा पुरुषों के मार्ग में चलने से दुःख कभी नहीं होता। इस को तुम मानते हो वा नहीं?

हां हां मानते हैं।

और देखो जो परमेश्वर की प्रकाशित वेदोक्त बात है वही सनातन और उस के विरुद्ध है वह सनातन कभी नहीं हो सकती। ऐसा ही सब लोगों को मानना चाहिये वा नहीं?

अवश्य चाहिये।

जो ऐसा न माने उस से कहो कि किसी का पिता दरिद्र हो उस का पुत्र धनाढ्य होवे तो क्या अपने पिता की दरिद्रावस्था के अभिमान से धन को फेंक देवे? क्या जिस का पिता अन्धा हो उस का पुत्र भी अपनी आंखों को फोड़ लेवे? जिस का पिता कुकर्मी हो क्या उस का पुत्र भी कुकर्म को ही करे? नहीं-नहीं किन्तु जो-जो पुरुषों के उत्तम कर्म हों उन का सेवन और दुष्ट कर्मों का त्याग कर देना सब का अत्यावश्यक है।

जो कोई रज वीर्य्य के योग से वर्णाश्रम-व्यवस्था माने और गुण कर्मों के योग से न माने तो उस से पूछना चाहिये कि जो कोई अपने वर्ण को छोड़ नीच, अन्त्यज अथवा कृश्चीन, मुसलमान हो गया हो उस को भी ब्राह्मण क्यों नहीं मानते? यहां यही कहोगे कि उस ने ब्राह्मण के कर्म छोड़ दिये इसलिये वह ब्राह्मण नहीं है। इस से यह भी सिद्ध होता है जो ब्राह्मणादि उत्तम कर्म करते हैं वे ही ब्राह्मणादि और जो नीच भी उत्तम वर्ण के गुण, कर्म, स्वभाव वाला होवे तो उस को भी उत्तम वर्ण में और जो उत्तम वर्णस्थ होके नीच काम करे तो उसको नीच वर्ण में गिनना अवश्य चाहिये।

(प्रश्न) **ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः ।**
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्याᳬं शूद्रो अजायत ॥

यह यजुर्वेद के ३१वें अध्याय का ११वां मन्त्र है। इसका यह अर्थ है कि ब्राह्मण ईश्वर के मुख, क्षत्रिय बाहू, वैश्य ऊरू और शूद्र पगों से उत्पन्न हुआ है। इसलिये जैसे मुख न बाहू आदि और बाहू आदि न मुख होते हैं, इसी प्रकार ब्राह्मण न क्षत्रियादि और क्षत्रियादि न ब्राह्मण हो सकते हैं।

(उत्तर) इस मन्त्र का अर्थ जो तुम ने किया वह ठीक नहीं क्योंकि यहां पुरुष अर्थात् निराकार व्यापक परमात्मा की अनुवृत्ति है। जब वह निराकार है तो उसके मुखादि अङ्ग नहीं हो सकते, जो मुखादि अङ्ग वाला हो वह पुरुष अर्थात् व्यापक नहीं और जो व्यापक नहीं वह सर्वशक्तिमान् जगत् का स्रष्टा, धर्त्ता, प्रलयकर्त्ता जीवों के पुण्य पापों की व्यवस्था करने हारा, सर्वज्ञ, अजन्मा, मृत्युरहित आदि विशेषणवाला नहीं हो सकता।

इसलिये इस का यह अर्थ है कि जो (अस्य) पूर्ण व्यापक परमात्मा की सृष्टि में मुख के सदृश सब में मुख्य उत्तम हो वह (ब्राह्मणः) ब्राह्मण (बाहू) **'बाहुर्वै बलं बाहुर्वै वीर्यम्'** शतपथब्राह्मण। बल वीर्य्य का नाम बाहु है वह जिस में अधिक हो सो (राजन्यः) क्षत्रिय (ऊरू) कटि के अधो और जानु के उपरिस्थ भाग का नाम है जो सब पदार्थों और सब देशों में ऊरू के बल से जावे आवे प्रवेश करे वह (वैश्यः) वैश्य और (पद्भ्याम्) जो पग के अर्थात् नीच अङ्ग के सदृश मूर्खत्वादि गुणवाला हो वह शूद्र है। अन्यत्र शतपथ ब्राह्मणादि में भी इस मन्त्र का ऐसा ही अर्थ किया है। जैसे-

'यस्मादेते मुख्यास्तस्मान्मुखतो ह्यसृज्यन्त।' इत्यादि।

जिस से ये मुख्य हैं इस से मुख से उत्पन्न हुए ऐसा कथन संगत होता है। अर्थात् जैसा मुख सब अङ्गों में श्रेष्ठ है वैसे पूर्ण विद्या और उत्तम गुण, कर्म, स्वभाव से युक्त होने से मनुष्यजाति में उत्तम ब्राह्मण कहाता है। जब परमेश्वर के

निराकार होने से मुखादि अङ्ग ही नहीं हैं तो मुख आदि से उत्पन्न होना असम्भव है। जैसा कि वन्ध्या स्त्री आदि के पुत्र का विवाह होना! और जो मुखादि अङ्गों से ब्राह्मणादि उत्पन्न होते तो उपादान कारण के सदृश ब्राह्मणादि की आकृति अवश्य होती। जैसे मुख का आकार गोल मोल है वैसे ही उन के शरीर का भी गोलमोल मुखाकृति के समान होना चाहिये। क्षत्रियों के शरीर भुजा के सदृश, वैश्यों के ऊरू के तुल्य और शूद्रों के शरीर पग के समान आकार वाले होने चाहिये। ऐसा नहीं होता और जो कोई तुम से प्रश्न करेगा कि जो जो मुखादि से उत्पन्न हुए थे उन की ब्राह्मणादि संज्ञा हो परन्तु तुम्हारी नहीं; क्योंकि जैसे और सब लोग गर्भाशय से उत्पन्न होते हैं वैसे तुम भी होते हो। तुम मुखादि से उत्पन्न न होकर ब्राह्मणादि संज्ञा का अभिमान करते हो इसलिये तुम्हारा कहा अर्थ व्यर्थ है और जो हम ने अर्थ किया है वह सच्चा है। ऐसा ही अन्यत्र भी कहा है। जैसा—

शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम्।
क्षत्रियाज्जातमेवन्तु विद्याद्वैश्यात्तथैव च॥ मनु०॥

जो शूद्रकुल में उत्पन्न होके ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य के समान गुण, कर्म, स्वभाव वाला हो तो वह शूद्र ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य हो जाय, वैसे ही ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्यकुल में उत्पन्न हुआ हो और उस के गुण, कर्म, स्वभाव शूद्र के सदृश हों तो वह शूद्र हो जाय। वैसे क्षत्रिय, वैश्य के कुल में उत्पन्न होके ब्राह्मण वा शूद्र के समान होने से ब्राह्मण और शूद्र भी हो जाता है। अर्थात् चारों वर्णों में जिस-जिस वर्ण के सदृश जो-जो पुरुष वा स्त्री हो वह-वह उसी वर्ण में गिनी जावे।

धर्मचर्य्यया जघन्यो वर्णः पूर्वं पूर्वं वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ॥ १॥
अधर्मचर्य्यया पूर्वो वर्णो जघन्यं जघन्यं वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ॥ २॥

ये आपस्तम्ब के सूत्र हैं। धर्माचरण से निकृष्ट वर्ण अपने से उत्तम-उत्तम वर्ण को प्राप्त होता है और वह उसी वर्ण में गिना जावे कि जिस-जिस के योग्य होवे॥ १॥

वैसे अधर्माचरण से पूर्व अर्थात् उत्तम वर्णवाला मनुष्य अपने से नीचे-नीचे वाले वर्ण को प्राप्त होता है और उसी वर्ण में गिना जावे॥ २॥

जैसे पुरुष जिस-जिस वर्ण के योग्य होता है वैसे ही स्त्रियों की भी व्यवस्था समझनी चाहिये। इससे क्या सिद्ध हुआ कि इस प्रकार होने से सब वर्ण अपने-अपने गुण, कर्म, स्वभावयुक्त होकर शुद्धता के साथ रहते हैं। अर्थात् ब्राह्मणकुल में कोई क्षत्रिय वैश्य और शूद्र के सदृश न रहे। और क्षत्रिय वैश्य तथा शूद्र वर्ण भी शुद्ध रहते हैं। अर्थात् वर्णसंकरता प्राप्त न होगी। इस से किसी वर्ण की निन्दा वा अयोग्यता भी न होगी।

(प्रश्न) जो किसी के एक ही पुत्र वा पुत्री हो वह दूसरे वर्ण में प्रविष्ट हो जाय तो उसके माँ बाप की सेवा कौन करेगा और वंशच्छेदन भी हो जायेगा। इस की क्या व्यवस्था होनी चाहिये?

(उत्तर) न किसी की सेवा का भङ्ग और न वंशच्छेदन होगा क्योंकि उन का अपने लड़के लड़कियों के बदले स्ववर्ण के योग्य दूसरे सन्तान विद्यासभा और राजसभा की व्यवस्था से मिलेंगे, इसलिये कुछ भी अव्यवस्था न होगी।

यह गुण कर्मों से वर्णों की व्यवस्था कन्याओं की सोलहवें वर्ष और पुरुषों की पच्चीसवें वर्ष की परीक्षा में नियत करनी चाहिये। और इसी क्रम से अर्थात् ब्राह्मण वर्ण का ब्राह्मणी, क्षत्रिय वर्ण का क्षत्रिया, वैश्य वर्ण का वैश्या और शूद्र वर्ण का शूद्रा के साथ विवाह होना चाहिये। तभी अपने-अपने वर्णों के कर्म और परस्पर प्रीति भी यथायोग्य रहेगी। इन चारों वर्णों के कर्त्तव्य कर्म और गुण ये हैं-

अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा।
दानं प्रतिग्रहश्चैव ब्राह्मणानामकल्पयत्॥ १॥
शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्मस्वभावजम्॥ २॥ भ० गी०॥

ब्राह्मण के पढ़ना, पढ़ाना, यज्ञ करना कराना, दान देना, लेना ये छः कर्म हैं परन्तु **'प्रतिग्रहः प्रत्यवरः'** मनु० अर्थात् प्रतिग्रह लेना नीच कर्म है॥ १॥ (शमः) मन से बुरे काम की इच्छा भी न करनी और उस को अधर्म्म में कभी प्रवृत्त न होने देना; (दमः) श्रोत्र और चक्षु आदि इन्द्रियों को अन्यायाचरण से रोक कर धर्म्म में चलाना, (तपः) सदा ब्रह्मचारी जितेन्द्रिय होके धर्मानुष्ठान करना; (शौच)-

अद्भिर्गात्राणि शुध्यन्ति मनः सत्येन शुध्यति।
विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुध्यति॥ मनु०॥

जल से बाहर के अङ्ग, सत्याचार से मन, विद्या और धर्मानुष्ठान से जीवात्मा और ज्ञान से बुद्धि पवित्र होती है। भीतर के राग, द्वेषादि दोष और बाहर के मलों को दूर कर शुद्ध रहना अर्थात् सत्यासत्य के विवेकपूर्वक सत्य के ग्रहण और असत्य के त्याग से निश्चय पवित्र होता है। (क्षान्ति) अर्थात् निन्दा स्तुति, सुख दुःख, शीतोष्ण, क्षुधा तृषा, हानि लाभ, मानापमान आदि हर्ष शोक, छोड़ के धर्म्म में दृढ़ निश्चय रहना। (आर्जव) कोमलता, निरभिमान, सरलता, सरलस्वभाव रखना, कुटिलतादि दोष छोड़ देना। (ज्ञानम्) सब वेदादि शास्त्रों को साङ्गोपाङ्ग पढ़ने पढ़ाने का सामर्थ्य, विवेक सत्य का निर्णय जो वस्तु जैसा हो अर्थात् जड़ को जड़ चेतन को चेतन जानना और मानना। (विज्ञान) पृथिवी से लेके परमेश्वर पर्य्यन्त पदार्थों को विशेषता से जानकर उन से यथायोग्य उपयोग लेना। (आस्तिक्य) कभी वेद, ईश्वर, मुक्ति, पूर्व परजन्म, धर्म, विद्या, सत्सङ्ग, माता, पिता, आचार्य्य और अतिथियों की सेवा को न छोड़ना और निन्दा कभी न करना। ये पन्द्रह कर्म और गुण ब्राह्मण वर्णस्थ मनुष्यों में अवश्य होने चाहिए॥ २॥ क्षत्रिय-

प्रजानां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च।
विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः॥ १॥ मनु०॥
शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्॥ २॥ भ० गी०॥

न्याय से प्रजा की रक्षा अर्थात् पक्षपात छोड़ के श्रेष्ठों का सत्कार और दुष्टों का तिरस्कार करना सब प्रकार से सब का पालन (दान) विद्या, धर्म की प्रवृत्ति और सुपात्रों की सेवा में धनादि पदार्थों का व्यय करना (इज्या) अग्निहोत्रादि यज्ञ करना वा कराना (अध्ययन) वेदादि शास्त्रों का पढ़ना तथा पढ़ाना और विषयों में न फंस कर जितेन्द्रिय रह के सदा शरीर और आत्मा से बलवान् रहना॥ १॥

(शौर्य्य) सैकड़ों सहस्रों से भी युद्ध करने में अकेले को भय न होना।

(तेजः) सदा तेजस्वी अर्थात् दीनतारहित प्रगल्भ दृढ़ रहना। (धृति) धैर्यवान् होना (दाक्ष्य) राजा और प्रजासम्बन्धी व्यवहार और सब शास्त्रों में अति चतुर होना। (युद्धे) युद्ध में भी दृढ़ निःशंक रहके उस से कभी न हटना न भागना अर्थात् इस प्रकार से लड़ना कि जिस से निश्चित विजय होवे, आप बचे, जो भागने से वा शत्रुओं को धोखा देने से जीत होती हो तो ऐसा ही करना। (दान) दानशीलता रखना। (ईश्वरभाव) पक्षपातरहित होके सब के साथ यथायोग्य वर्त्तना, विचार के देवे, प्रतिज्ञा पूरा करना, उस को कभी भङ्ग होने न देना। ये ग्यारह क्षत्रिय वर्ण के गुण हैं॥ २॥ वैश्य—

पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च।
वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च॥ मनु०॥

(पशुरक्षा) गाय आदि पशुओं का पालन-वर्द्धन करना (दान) विद्या धर्म की वृद्धि करने कराने के लिये धनादि का व्यय करना (इज्या) अग्निहोत्रादि यज्ञों का करना (अध्ययन) वेदादि शास्त्रों का पढ़ना (वणिक्पथ) सब प्रकार के व्यापार करना (कुसीद) एक सैकड़े में चार, छः, आठ, बारह, सोलह, वा बीस आनों से अधिक ब्याज और मूल से दूना अर्थात् एक रुपया दिया तो सौ वर्ष में भी दो रुपये से अधिक न लेना और न देना (कृषि) खेती करना। ये वैश्य के गुण कर्म हैं। शूद्र—

एकमेव हि शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत्।
एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया॥ मनु०॥

शूद्र को योग्य है निन्दा, ईर्ष्या, अभिमान आदि दोषों को छोड़ के ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों की सेवा यथावत् करना और उसी से अपना जीवन-यापन करना यही एक शूद्र का कर्म गुण है॥ १॥

ये संक्षेप से वर्णों के गुण और कर्म लिखे। जिस-जिस पुरुष में जिस-जिस वर्ण के गुण कर्म हों उस-उस वर्ण का अधिकार देना। ऐसी व्यवस्था रखने से सब मनुष्य उन्नतिशील होते हैं। क्योंकि उत्तम वर्णों को भय होगा कि जो हमारे सन्तान मूर्खत्वादि दोषयुक्त होंगे तो शूद्र हो जायेंगे और सन्तान भी डरते रहैंगे कि जो हम उक्त चालचलन और विद्यायुक्त न होंगे तो शूद्र होना पड़ेगा और नीच वर्णों को उत्तम वर्णस्थ होने के लिए उत्साह बढ़ेगा।

विद्या और धर्म के प्रचार का अधिकार ब्राह्मण को देना क्योंकि वे पूर्ण विद्यावान् और धार्मिक होने से उस काम को यथायोग्य कर सकते हैं। क्षत्रियों को राज्य के अधिकार देने से कभी राज्य की हानि वा विघ्न नहीं होता। पशुपालनादि का अधिकार वैश्यों ही को होना योग्य है क्योंकि वे इस काम को अच्छे प्रकार कर सकते हैं। शूद्र को सेवा का अधिकार इसलिये है कि वह विद्या रहित मूर्ख होने से विज्ञानसम्बन्धी काम कुछ भी नहीं कर सकता किन्तु शरीर के काम सब कर सकता है। इस प्रकार वर्णों को अपने-अपने अधिकार में प्रवृत्त करना राजा आदि सभ्य जनों का काम है।

विवाह के लक्षण

ब्राह्मो दैवस्तथैवार्षः प्राजापत्यस्तथाऽऽसुरः।
गान्धर्वो राक्षसश्चैव पैशाचश्चाष्टमोऽधमः॥ मनु०॥

विवाह आठ प्रकार का होता है। एक ब्राह्म, दूसरा दैव, तीसरा आर्ष, चौथा प्राजापत्य, पांचवां आसुर, छठा गान्धर्व, सातवां राक्षस, आठवां पैशाच। इन विवाहों की यह व्यवस्था है कि—वर कन्या दोनों यथावत् ब्रह्मचर्य से पूर्ण विद्वान् धार्मिक और सुशील हों उन का परस्पर प्रसन्नता से विवाह होना **'ब्राह्म'** कहाता है। विस्तृतयज्ञ करने में ऋत्विक् कर्म करते हुए जामाता को अलङ्कारयुक्त कन्या का देना **'दैव'**। वर से कुछ लेके विवाह होना **'आर्ष'**। दोनों का विवाह धर्म की वृद्धि के अर्थ होना **'प्राजापत्य'** । वर और कन्या को कुछ देके विवाह **'आसुर'**। अनियम, असमय किसी कारण से वर-कन्या का इच्छापूर्वक परस्पर संयोग होना **'गान्धर्व'**। लड़ाई करके बलात्कार अर्थात् छीन, झपट वा कपट से कन्या का ग्रहण करना **'राक्षस'।** शयन वा मद्यादि पी हुई पागल कन्या से बलात्कार संयोग करना **'पैशाच'**।

इन सब विवाहों में ब्राह्मविवाह सर्वोत्कृष्ट, दैव मध्यम, आर्ष, आसुर और गान्धर्व निकृष्ट, राक्षस अधम और पैशाच महाभ्रष्ट है। इसलिये यही निश्चय रखना चाहिये कि कन्या और वर का विवाह के पूर्व एकान्त में मेल न होना चाहिए क्योंकि युवावस्था में स्त्री पुरुष का एकान्तवास दूषणकारक है। परन्तु जब कन्या वा वर के विवाह का समय हो अर्थात् जब एक वर्ष वा छः महीने ब्रह्मचर्याश्रम और विद्या पूरी होने में शेष रहें तब उन कन्या और कुमारों का प्रतिबिम्ब अर्थात् जिस को 'फोटोग्राफ' कहते हैं अथवा प्रतिकृति उतार के कन्याओं की अध्यापिकाओं के पास कुमारों की, कुमारों के अध्यापकों के पास कन्याओं की प्रतिकृति भेज देवें। जिस-जिस का रूप मिल जाय उस-उस के इतिहास अर्थात् जन्म से लेके उस दिन पर्यन्त जन्मचरित्र का पुस्तक हो उस को अध्यापक लोग मंगवा के देखें। जब दोनों के गुण, कर्म, स्वभाव सदृश हों तब जिस-जिस के साथ जिस-जिस का विवाह होना योग्य समझें उस-उस पुरुष और कन्या का प्रतिबिम्ब और इतिहास कन्या और वर के हाथ में देवें और कहें कि इस में जो तुम्हारा अभिप्राय हो सो हम को विदित कर देना। जब उन दोनों का निश्चय परस्पर विवाह करने का हो जाय तब उन दोनों का समावर्त्तन एक ही समय में होवे।

जो वे दोनों अध्यापकों के सामने विवाह करना चाहें तो वहां, नहीं तो कन्या के माता पिता के घर में विवाह होना योग्य है। जब वे समक्ष हों तब उन अध्यापकों वा कन्या के माता पिता आदि भद्रपुरुषों के सामने उन दोनों की आपस में बातचीत, शास्त्रार्थ कराना और जो कुछ गुप्त व्यवहार पूछें सो भी सभा में लिखके एक दूसरे के हाथ में देकर प्रश्नोत्तर कर लेवें।

जब दोनों का दृढ़ प्रेम विवाह करने में हो जाय तब से उनके खान-पान का उत्तम प्रबन्ध होना चाहिये कि जिस से उनका शरीर जो पूर्व ब्रह्मचर्य और विद्याध्ययनरूप तपश्चर्या और कष्ट से दुर्बल होता है वह चन्द्रमा की कला के समान बढ़ के पुष्ट थोड़े ही दिनों में हो जाय।

पश्चात् जिस दिन कन्या रजस्वला होकर जब शुद्ध हो तब वेदी और मण्डप रचके अनेक सुगन्ध्यादि द्रव्य और घृतादि का होम तथा अनेक विद्वान् पुरुष और स्त्रियों का यथायोग्य सत्कार करें। पश्चात् जिस दिन ऋतुदान देना योग्य समझें उसी दिन 'संस्कारविधि' पुस्तकस्थ विधि के अनुसार सब कर्म करके मध्यरात्रि वा दश बजे अति प्रसन्नता से सब के सामने पाणिग्रहणपूर्वक विवाह की विधि को पूरा करके एकान्तसेवन करें। पुरुष वीर्य्यस्थापन और स्त्री वीर्याकर्षण की जो

विधि है उसी के अनुसार दोनों करें। जहां तक बने वहां तक ब्रह्मचर्य के वीर्य्य को व्यर्थ न जाने दें क्योंकि उस वीर्य्य वा रज से जो शरीर उत्पन्न होता है वह अपूर्व उत्तम सन्तान होता है। जब वीर्य का गर्भाशय में गिरने का समय हो उस समय स्त्री और पुरुष दोनों स्थिर और नासिका के सामने नासिका, नेत्र के सामने नेत्र अर्थात् सूधा शरीर और अत्यन्त प्रसन्नचित्त रहैं, डिगें नहीं। पुरुष अपने शरीर को ढीला छोड़े और स्त्री वीर्य्यप्राप्ति समय अपान वायु को ऊपर खींचे, योनि को ऊपर संकोच कर वीर्य्य का ऊपर आकर्षण करके गर्भाशय में स्थित करे। पश्चात् दोनों शुद्ध जल से स्नान करें।[१]

गर्भस्थिति होने का परिज्ञान विदुषी स्त्री को तो उसी समय हो जाता है परन्तु इस का निश्चय एक मास के पश्चात् रजस्वला न होने पर सब को हो जाता है। सोंठ, केशर, असगन्ध, छोटी इलायची और सालममिश्री डाल के गर्म करके जो प्रथम ही रक्खा हुआ ठण्डा दूध है उस को यथारुचि दोनों पी के अलग-अलग अपनी-अपनी शय्या में शयन करें। यही विधि जब-जब गर्भाधान क्रिया करें तब-तब करना उचित है।

जब महीने भर में रजस्वला न होने से गर्भस्थिति का निश्चय हो जाय तब से एक वर्ष पर्य्यन्त स्त्री पुरुष का समागम कभी न होना चाहिये। क्योंकि ऐसा न होने से सन्तान उत्तम और पुनः दूसरा सन्तान भी वैसा ही होता है। अन्यथा वीर्य्य व्यर्थ जाता दोनों की आयु घट जाती और अनेक प्रकार के रोग होते हैं परन्तु ऊपर से भाषणादि प्रेमयुक्त व्यवहार दोनों को अवश्य रखना चाहिये। पुरुष वीर्य्य की स्थिति और स्त्री गर्भ की रक्षा और भोजन छादन इस प्रकार का करे कि जिस से पुरुष का वीर्य स्वप्न में भी नष्ट न हो और गर्भ में बालक का शरीर अत्युत्तम रूप लावण्य, पुष्टि, बल, पराक्रमयुक्त होकर दशवें महीने में जन्म होवे। विशेष उस की रक्षा चौथे महीने से और अतिविशेष आठवें महीने से आगे करनी चाहिये। कभी गर्भवती स्त्री रेचक, रूक्ष, मादकद्रव्य, बुद्धि और बलनाशक पदार्थों के भोजनादि का सेवन न करे किन्तु घी, दूध, उत्तम चावल, गेहूं, मूँग, उर्द आदि अन्न पान और देशकाल का भी सेवन युक्तिपूर्वक करे।

गर्भ में दो संस्कार एक चौथे महीने पुंसवन और दूसरा आठवें महीने में सीमन्तोन्नयन विधि के अनुकूल करे। जब सन्तान का जन्म हो तब स्त्री और लड़के के शरीर की रक्षा बहुत सावधानी से करे अर्थात् शुण्ठीपाक अथवा सौभाग्यशुण्ठीपाक प्रथम ही बनवा रक्खें। उस समय सुगन्धियुक्त उष्ण जल जो कि किञ्चित् उष्ण रहा हो उसी से स्त्री स्नान करे और बालक को भी स्नान करावे। तत्पश्चात् नाड़ीछेदन-बालक की नाभि के जड़ में एक कोमल सूत से बांध चार अंगुल छोड़ के ऊपर से काट डाले। उस को ऐसा बांधे कि जिस से शरीर से रुधिर का एक बिन्दु भी न जाने पावे। पश्चात् उस स्थान को शुद्ध करके उस के द्वार के भीतर सुगन्धादियुक्त घृतादि का होम करे। तत्पश्चात् सन्तान के कान में पिता **'वेदोऽसीति'** अर्थात् 'तेरा नाम वेद है' सुनाकर घी और सहत को लेके सोने की शलाका से जीभ पर **'ओ३म्'** अक्षर लिख कर मधु और घृत को उसी शलाका से चटवावे।

---

१. **यह बात रहस्य की है इसलिये इतने से ही समग्र बातें समझ लेनी चाहिये विशेष लिखना उचित नहीं।**

पश्चात् उसकी माता को दे देवे। जो दूध पीना चाहै तो उस की माता पिलावे जो उस की माता के दूध न हो तो किसी स्त्री की परीक्षा कर के उसका दूध पिलावे।

पश्चात् दूसरे शुद्ध कोठरी वा जहां का वायु शुद्ध हो उसमें सुगन्धित घी का होम प्रातः और सायंकाल किया करे और उसी में प्रसूता स्त्री तथा बालक को रक्खे। छः दिन तक माता का दूध पिये और स्त्री भी अपने शरीर के पुष्टि के अर्थ अनेक प्रकार के उत्तम भोजन करे और योनिसंकोचादि भी करे। छठे दिन स्त्री बाहर निकले और सन्तान के दूध पीने के लिये कोई धायी रक्खे। उस को खानपान अच्छा करावे। वह सन्तान को दूध पिलाया करे और पालन भी करे परन्तु उस की माता लड़के पर पूर्ण दृष्टि रक्खे, किसी प्रकार का अनुचित व्यवहार उस के पालन में न हो। स्त्री दूध बन्ध करने के अर्थ स्तन के अग्रभाग पर ऐसा लेप करे कि जिस से दूध स्रवित न हो। उसी प्रकार खान-पान का व्यवहार भी यथायोग्य रक्खे।

पश्चात् नामकरणादि संस्कार 'संस्कारविधि' की रीति से यथाकाल करता जाय। जब स्त्री फिर रजस्वला हो तब शुद्ध होने के पश्चात् उसी प्रकार ऋतुदान देवे।

ऋतुकालाभिगामी स्यात्स्वदारनिरतः सदा।
ब्रह्मचार्य्येव भवति यत्र तत्राश्रमे वसन्॥ मनु०॥

जो अपनी ही स्त्री से प्रसन्न और ऋतुगामी होता है वह गृहस्थ भी ब्रह्मचारी के सदृश है।

सन्तुष्टो भार्यया भर्त्ता भर्त्रा भार्या तथैव च।
यस्मिन्नेव कुले नित्यं कल्याणं तत्र वै ध्रुवम्॥ १॥
यदि हि स्त्री न रोचेत पुमांसन्न प्रमोदयेत्।
अप्रमोदात्पुनः पुंसः प्रजननं न प्रवर्त्तते॥ २॥
स्त्रियां तु रोचमानायां सर्वं तद्रोचते कुलम्।
तस्यां त्वरोचमानायां सर्वमेव न रोचते॥३॥ मनु०॥

जिस कुल में भार्य्या से भर्त्ता और पति से पत्नी अच्छे प्रकार प्रसन्न रहती है उसी कुल में सब सौभाग्य और ऐश्वर्य निवास करते हैं। जहां कलह होता है वहां दौर्भाग्य और दारिद्र्य स्थिर होता है॥ १॥ जो स्त्री पति से प्रीति और पति को प्रसन्न नहीं करती तो पति के अप्रसन्न होने से काम उत्पन्न नहीं होता॥२॥ जिस स्त्री की प्रसन्नता में सब कुल प्रसन्न होता उसकी अप्रसन्नता में सब अप्रसन्न अर्थात् दुःखदायक हो जाता है॥ ३॥

पितृभिर्भ्रातृभिश्चैताः पतिभिर्देवरैस्तथा।
पूज्या भूषयितव्याश्च बहुकल्याणमीप्सुभिः॥ १॥
यत्र नार्य्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राऽफलाः क्रियाः॥ २॥
शोचन्ति जामयो यत्र विनश्यत्याशु तत्कुलम्।
न शोचन्ति तु यत्रैता वर्द्धते तद्धि सर्वदा॥ ३॥
तस्मादेताः सदा पूज्या भूषणाच्छादनाशनैः।
भूतिकामैर्नरैर्नित्यं सत्कारेषूत्सवेषु च॥ ४॥ मनु०॥

पिता, भाई, पति और देवर इन को सत्कारपूर्वक भूषणादि से प्रसन्न रक्खें,

जिन को बहुत कल्याण की इच्छा हो वे ऐसे करें॥ १॥ जिस घर में स्त्रियों का सत्कार होता है उस में विद्यायुक्त पुरुष होके देवसंज्ञा धरा के आनन्द से क्रीड़ा करते हैं और जिस घर में स्त्रियों का सत्कार नहीं होता वहां सब क्रिया निष्फल हो जाती हैं॥ २॥ जिस घर वा कुल में स्त्री लोग शोकातुर होकर दुःख पाती हैं वह कुल शीघ्र नष्ट भ्रष्ट हो जाता है और जिस घर वा कुल में स्त्री लोग आनन्द से उत्साह और प्रसन्नता से भरी हुई रहती हैं वह कुल सर्वदा बढ़ता रहता है॥ ३॥ इसलिए ऐश्वर्य की कामना करनेहारे मनुष्यों को योग्य है कि सत्कार और उत्सव के समयों में भूषण वस्त्र और भोजनादि से स्त्रियों का नित्यप्रति सत्कार करें॥ ४॥ यह बात सदा ध्यान में रखनी चाहिये कि 'पूजा' शब्द का अर्थ सत्कार है और दिन रात में जब-जब प्रथम मिलें वा पृथक् हों तब-तब प्रीतिपूर्वक 'नमस्ते' एक दूसरे से करें।

सदा प्रहृष्टया भाव्यं गृहकार्येषु दक्षया।
सुसंस्कृतोपस्करया व्यये चामुक्तहस्तया॥ मनु०॥

स्त्री को योग्य है कि अतिप्रसन्नता से घर के कामों में चतुराईयुक्त सब पदार्थों के उत्तम संस्कार, घर की शुद्धि और व्यय में अत्यन्त उदार न रहैं अर्थात् सब चीजें पवित्र और पाक इस प्रकार बनावें जो औषधरूप होकर शरीर वा आत्मा में रोग को न आने देवे। जो-जो व्यय हो उस का हिसाब यथावत् रखके पति आदि को सुना दिया करे। घर के नौकर चाकरों से यथायोग्य काम लेवे। घर के किसी काम को बिगड़ने न देवे।

स्त्रियो रत्नान्यथो विद्या सत्यं शौचं सुभाषितम्।
विविधानि च शिल्पानि समादेयानि सर्वतः॥ मनु०॥

उत्तम स्त्री, नाना प्रकार के रत्न, विद्या, सत्य, पवित्रता, श्रेष्ठभाषण और नाना प्रकार की शिल्पविद्या अर्थात् कारीगरी सब देश तथा सब मनुष्यों से ग्रहण करे।

सत्यं ब्रूयात्प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्।
प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः॥ १॥
भद्रं भद्रमिति ब्रूयाद्भद्रमित्येव वा वदेत्।
शुष्कवैरं विवादं च न कुर्यात् केनचित्सह॥ २॥ मनु०॥

सदा प्रिय सत्य दूसरे का हितकारक बोले अप्रिय सत्य अर्थात् काणे को काणा न बोले। अनृत अर्थात् झूठ दूसरे को प्रसन्न करने के अर्थ न बोले॥१॥

सदा भद्र अर्थात् सब के हितकारी वचन बोला करे। शुष्कवैर अर्थात् विना अपराध किसी के साथ विरोध वा विवाद न करे॥ २॥ जो-जो दूसरे का हितकर हो और बुरा भी माने तथापि कहे विना न रहै।

पुरुषा बहवो राजन् सततं प्रियवादिनः।
अप्रियस्य तु पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः॥ -उद्योगपर्व-विदुरनीति०॥

हे धृतराष्ट्र ! इस संसार में दूसरे को निरन्तर प्रसन्न करने के लिये प्रिय बोलने वाले प्रशंसक लोग बहुत हैं परन्तु सुनने में अप्रिय विदित हो और वह कल्याण करनेवाला वचन हो उस का कहने और सुननेवाला पुरुष दुर्लभ है। क्योंकि सत्पुरुषों को योग्य है कि मुख के सामने दूसरे का दोष कहना और अपना दोष सुनना, परोक्ष में दूसरे के गुण सदा कहना। और दुष्टों की यही रीति है कि सम्मुख में गुण कहना

और परोक्ष में दोषों का प्रकाश करना। जब तक मनुष्य दूसरे से अपने दोष नहीं सुनता वा कहने वाला नहीं कहता तब तक मनुष्य दोषों से छूटकर गुणी नहीं हो सकता।

कभी किसी की निन्दा न करे। जैसे—**'गुणेषु दोषारोपणमसूया'** अर्थात् **'दोषेषु गुणारोपणमप्यसूया,' 'गुणेषु गुणारोपणं दोषेषु दोषारोपणं च स्तुतिः'** जो गुणों में दोष, दोषों में गुण लगाना वह निन्दा और गुणों में गुण, दोषों में दोषों का कथन करना स्तुति कहाती है। अर्थात् मिथ्याभाषण का नाम निन्दा और सत्यभाषण का नाम स्तुति है।

बुद्धिवृद्धिकराण्याशु धन्यानि च हितानि च।
नित्यं शास्त्राण्यवेक्षेत निगमांश्चैव वैदिकान्॥ १॥
यथा यथा हि पुरुषः शास्त्रं समधिगच्छति।
तथा तथा विजानाति विज्ञानं चास्य रोचते॥ २॥ मनु०॥

जो शीघ्र बुद्धि, धन और हित की वृद्धि करनेहारे शास्त्र और वेद हैं उन को नित्य सुनें और सुनावें। ब्रह्मचर्य्याश्रम में पढ़े हों उन को स्त्री पुरुष नित्य विचारा और पढ़ाया करें॥ १॥ क्योंकि जैसे-जैसे मनुष्य शास्त्रों को यथावत् जानता है वैसे-वैसे उस विद्या का विज्ञान बढ़ता जाता और उसी में रुचि बढ़ती रहती है॥ २॥

ऋषियज्ञं देवयज्ञं भूतयज्ञं च सर्वदा।
नृयज्ञं पितृयज्ञं च यथाशक्ति न हापयेत्॥ १॥
अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञश्च तर्प्पणम्।
होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम्॥ २॥
स्वाध्यायेनार्चयेतर्षीन् होमैर्देवान् यथाविधि।
पितॄन् श्राद्धैश्च नॄनन्नैर्भूतानि बलिकर्मणा॥ ३॥ मनु०॥

दो यज्ञ ब्रह्मचर्य में लिख आये वे अर्थात् एक-वेदादि शास्त्रों को पढ़ना पढ़ाना, सन्ध्योपासन, योगाभ्यास। **दूसरा देवयज्ञ**—विद्वानों का संग, सेवा, पवित्रता, दिव्य गुणों का धारण, दातृत्व, विद्या की उन्नति करना है, ये दोनों यज्ञ सायं प्रातः करने होते हैं।

सायंसायं गृहपतिर्नो अग्निः प्रातः प्रातः सौमनसस्य दाता ॥१॥
प्रातः प्रातर्गृहपतिर्नो अग्निः सायंसायं सौमनसस्य दाता ॥२॥

—अ० कां० १९। अनु० ७। मं० ३। ४॥

तस्मादहोरात्रस्य संयोगे ब्राह्मणः सन्ध्यामुपासीत।
उद्यन्तमस्तं यान्तम् आदित्यम् अभिध्यायन्॥ ३॥ ब्राह्मणे॥
न तिष्ठति तु यः पूर्वां नोपास्ते यस्तु पश्चिमाम्।
स साधुभिर्बहिष्कार्यः सर्वस्माद् द्विजकर्मणः॥ ४॥ मनु०॥

जो सन्ध्या-सन्ध्या काल में होम होता है वह हुतद्रव्य प्रातःकाल तक वायुशुद्धि द्वारा सुखकारी होता है॥ १॥ जो अग्नि में प्रातः-प्रातःकाल में होम किया जाता है वह-वह हुतद्रव्य सायङ्काल पर्यन्त वायु के शुद्धि द्वारा बल बुद्धि और आरोग्यकारक होता है॥ २॥ इसलिये दिन और रात्रि के सन्धि में अर्थात् सूर्योदय और अस्त समय में परमेश्वर का ध्यान और अग्निहोत्र अवश्य करना चाहिये॥ ३॥

और जो ये दोनों काम सायं और प्रातःकाल में न करे उस को सज्जन लोग सब द्विजों के कर्मों से बाहर निकाल देवें अर्थात् उसे शूद्रवत् समझें॥ ४॥

(प्रश्न) त्रिकाल सन्ध्या क्यों नहीं करना ?

(उत्तर) तीन समय में सन्धि नहीं होती। प्रकाश और अन्धकार की सन्धि भी सायं प्रातः दो ही वेला में होती है। जो इस को न मानकर मध्याह्नकाल में तीसरी सन्ध्या माने वह मध्यरात्रि में भी सन्ध्योपासन क्यों न करे? जो मध्यरात्रि में भी करना चाहै तो प्रहर-प्रहर घड़ी-घड़ी पल-पल और क्षण-क्षण की भी सन्धि होती है, उनमें भी सन्ध्योपासन किया करे। जो ऐसा भी करना चाहै तो हो ही नहीं सकता। और किसी शास्त्र का मध्याह्नसन्ध्या में प्रमाण भी नहीं। इसलिये दोनों कालों में सन्ध्या और अग्निहोत्र करना समुचित है, तीसरे काल में नहीं। और जो तीन काल होते हैं वे भूत, भविष्यत् और वर्त्तमान के भेद से हैं, सन्ध्योपासन के भेद से नहीं।

तीसरा **'पितृयज्ञ'** अर्थात् जिस में जो देव विद्वान्, ऋषि जो पढ़ने-पढ़ाने हारे, पितर माता पिता आदि वृद्ध ज्ञानी और परमयोगियों की सेवा करनी। पितृयज्ञ के दो भेद हैं एक श्राद्ध और दूसरा तर्पण। श्राद्ध अर्थात् **'श्रत्'** सत्य का नाम है **'श्रत्सत्यं दधाति यया क्रियया सा श्रद्धा श्रद्धया यत्क्रियते तच्छ्राद्धम्'** जिस क्रिया से सत्य का ग्रहण किया जाय उस को श्रद्धा और जो श्रद्धा से कर्म किया जाय उसका नाम श्राद्ध है। और **'तृप्यन्ति तर्पयन्ति येन पितॄन् तत्तर्पणम्'** जिस-जिस कर्म से तृप्त अर्थात् विद्यमान माता पितादि पितर प्रसन्न हों और प्रसन्न किये जायें उस का नाम तर्पण है। परन्तु यह जीवितों के लिये है मृतकों के लिये नहीं।

ओं ब्रह्मादयो देवास्तृप्यन्ताम्। ब्रह्मादिदेवपत्न्यस्तृप्यन्ताम्।
ब्रह्मादिदेवसुतास्तृप्यन्ताम् । ब्रह्मादिदेवगणास्तृप्यन्ताम्॥ इति देवतर्पणम्॥
'विद्वाꣳसो हि देवाः।' यह शतपथ ब्राह्मण का वचन है।

जो विद्वान् हैं उन्हीं को देव कहते हैं। जो साङ्गोपाङ्ग चार वेदों के जानने वाले हों उन का नाम ब्रह्मा और जो उन से न्यून पढ़े हों उन का भी नाम देव अर्थात् विद्वान् है। उनके सदृश विदुषी स्त्री, उनकी ब्रह्माणी और देवी, उनके तुल्य पुत्र और शिष्य तथा उनके सदृश उन के गण अर्थात् सेवक हों उन की सेवा करना है उस का नाम 'श्राद्ध' और 'तर्पण' है।

अथर्षितर्पणम्

ओं मरीच्यादय ऋषयस्तृप्यन्ताम्। मरीच्याद्यृषिपत्न्यस्तृप्यन्ताम्। मरीच्याद्यृषिसुतास्तृप्यन्ताम्। मरीच्याद्यृषिगणास्तृप्यन्ताम्॥ इति ऋषितर्पणम्॥

जो ब्रह्मा के प्रपौत्र मरीचिवत् विद्वान् होकर पढ़ावें और जो उनके सदृश विद्यायुक्त उनकी स्त्रियां कन्याओं को विद्यादान देवें उनके तुल्य पुत्र और शिष्य तथा उन के समान उनके सेवक हों, उन का सेवन सत्कार करना ऋषितर्पण है।

अथ पितृतर्पणम्

ओं सोमसदः पितरस्तृप्यन्ताम्। अग्निष्वात्ताः पितरस्तृप्यन्ताम्। बर्हिषदः पितरस्तृप्यन्ताम्। सोमपाः पितरस्तृप्यन्ताम्। हविर्भुजः पितरस्तृप्यन्ताम्। आज्यपाः पितरस्तृप्यन्ताम्। यमादिभ्यो नमः यमादींस्तर्पयामि। पित्रे स्वधा नमः पितरं तर्पयामि। पितामहाय स्वधा नमः पितामहं तर्पयामि। मात्रे स्वधा नमो मातरं

तर्पयामि। पितामह्यै स्वधा नमः पितामहीं तर्पयामि। स्वपत्न्यै स्वधा नमः स्वपत्नीं तर्पयामि। सम्बन्धिभ्यः स्वधा नमः सम्बन्धींस्तर्पयामि। सगोत्रेभ्यः स्वधा नमः सगोत्रांस्तर्पयामि॥ इति पितृतर्पणम्॥

'ये सोमे जगदीश्वरे पदार्थविद्यायां च सीदन्ति से सोमसदः' जो परमात्मा और पदार्थ विद्या में निपुण हों वे सोमसद। **'यैरग्नेर्विद्युतो विद्या गृहीता ते अग्निष्वात्ताः'** जो अग्नि अर्थात् विद्युदादि पदार्थों के जानने वाले हों वे अग्निष्वात्त। **'ये बर्हिषि उत्तमे व्यवहारे सीदन्ति ते बर्हिषदः'** जो उत्तम विद्यावृद्धियुक्त व्यवहार में स्थित हों वे बर्हिषद। **'ये सोममैश्वर्यमोषधीरसं वा पान्ति पिबन्ति वा ते सोमपाः'** जो ऐश्वर्य के रक्षक और महौषधि रस का पान करने से रोगरहित और अन्य के ऐश्वर्य के रक्षक औषधों को देके रोगनाशक हों वे सोमपा। **'ये हविर्होतुमत्तुमर्हं भुञ्जते भोजयन्ति वा ते हविर्भुजः'** जो मादक और हिंसाकारक द्रव्यों को छोड़ के भोजन करनेहारे हों वे हविर्भुज। **'य आज्यं ज्ञातुं प्राप्तुं वा योग्यं रक्षन्ति वा पिबन्ति त आज्यपाः'** जो जानने के योग्य वस्तु के रक्षक और घृत दुग्धादि खाने और पीनेहारे हों वे आज्यपा। **'शोभनः कालो विद्यते येषान्ते सुकालिनः'** जिन का अच्छा धर्म करने का सुखरूप समय हो वे सुकालिन्। **'ये दुष्टान् यच्छन्ति निगृह्णन्ति ते यमा न्यायाधीशाः'** जो दुष्टों को दण्ड और श्रेष्ठों का पालन करनेहारे न्यायकारी हों वे यम। **'यः पाति स पिता'** जो सन्तानों का अन्न और सत्कार से रक्षक वा जनक हो वह पिता। **'पितुः पिता पितामहः, पितामहस्य पिता प्रपितामहः'** जो पिता का पिता हो वह पितामह और जो पितामह का पिता हो वह प्रपितामह। **'या मानयति सा माता'** जो अन्न और सत्कारों से सन्तानों का मान्य करे वह माता। **'या पितुर्माता सा पितामही पितामहस्य माता प्रपितामही'** जो पिता की माता हो वह पितामही और पितामह की माता हो वह प्रपितामही। अपनी स्त्री तथा भगिनी सम्बन्धी और एक गोत्र के तथा अन्य कोई भद्र पुरुष वा वृद्ध हों उन सब को अत्यन्त श्रद्धा से उत्तम अन्न, वस्त्र, सुन्दर यान आदि देकर अच्छे प्रकार जो तृप्त करना अर्थात् जिस-जिस कर्म से उनका आत्मा तृप्त और शरीर स्वस्थ रहै उस-उस कर्म से प्रीतिपूर्वक उनकी सेवा करनी वह श्राद्ध और तर्प्पण कहाता है।

चौथा **वैश्वदेव**—अर्थात् जब भोजन सिद्ध हो तब जो कुछ भोजनार्थ बने, उसमें से खट्टा लवणान्न और क्षार को छोड़ के घृत मिष्टयुक्त अन्न लेकर चूल्हे से अग्नि अलग धर निम्नलिखित मन्त्रों से आहुति और भाग करे।

वैश्वदेवस्य सिद्धस्य गृह्येऽग्नौ विधिपूर्वकम् ।
आभ्यः कुर्य्याद्देवताभ्यो ब्राह्मणो होममन्वहम्॥ मनु०॥

जो कुछ पाकशाला में भोजनार्थ सिद्ध हो, उस का दिव्य गुणों के अर्थ उसी पाकाग्नि में निम्नलिखित मन्त्रों से विधिपूर्वक होम नित्य करे।

होम के मन्त्र

ओम् अग्नये स्वाहा। सोमाय स्वाहा। अग्नीषोमाभ्यां स्वाहा। विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा। धन्वन्तरये स्वाहा। कुह्वै स्वाहा। अनुमत्यै स्वाहा। प्रजापतये स्वाहा। सह द्यावापृथिवीभ्यां स्वाहा। स्विष्टकृते स्वाहा।

इन प्रत्येक मन्त्रों से एक-एक बार आहुति प्रज्वलित अग्नि में छोड़े। पश्चात्

थाली अथवा भूमि में पत्ता रख के पूर्व दिशादि क्रमानुसार यथाक्रम इन मन्त्रों से भाग रक्खे–

ओं सानुगायेन्द्राय नमः। सानुगाय यमाय नमः। सानुगाय वरुणाय नमः। सानुगाय सोमाय नमः। मरुद्भ्यो नमः। अद्भ्यो नमः। वनस्पतिभ्यो नमः। श्रियै नमः। भद्रकाल्यै नमः। ब्रह्मपतये नमः। वास्तुपतये नमः। विश्वेभ्यो देवेभ्यो नमः। दिवाचरेभ्यो भूतेभ्यो नमः। नक्तञ्चारिभ्यो भूतेभ्यो नमः। सर्वात्मभूतये नमः॥

इन भागों को जो कोई अतिथि हो तो उस को जिमा देवे अथवा अग्नि में छोड़ देवे। इनके अनन्तर लवणान्न अर्थात् दाल, भात, शाक, रोटी आदि लेकर छः भाग भूमि में धरे। इसमें प्रमाण–

शुनां च पतितानां च श्वपचां पापरोगिणाम्।
वायसानां कृमीणां च शनकैर्निर्वपेद् भुवि॥ मनु०॥

इस प्रकार **'श्वभ्यो नमः। पतितेभ्यो नमः। श्वपग्भ्यो नमः। पापरोगिभ्यो नमः। वायसेभ्यो नमः। कृमिभ्यो नमः॥'** धर कर पश्चात् किसी दुःखी बुभुक्षित प्राणी अथवा कुत्ते, कौवे आदि को दे देवे।

यहां नमः शब्द का अर्थ अन्न अर्थात् कुत्ते, पापी, चाण्डाल, पापरोगी कौवे और कृमि अर्थात् चींटी आदि को अन्न देना यह मनुस्मृति आदि की विधि है।

हवन करने का प्रयोजन यह है कि–पाकशालास्थ वायु का शुद्ध होना और जो अज्ञात अदृष्ट जीवों की हत्या होती है उस का प्रत्युपकार कर देना।

अब **पांचवीं अतिथिसेवा**–अतिथि उस को कहते हैं कि जिस की कोई तिथि निश्चित न हो अर्थात् अकस्मात् धार्मिक, सत्योपदेशक, सब के उपकारार्थ सर्वत्र घूमने वाला, पूर्ण विद्वान्, परमयोगी, संन्यासी गृहस्थ के यहां आवे तो उस को प्रथम पाद्य, अर्घ और आचमनीय तीन प्रकार का जल देकर, पश्चात् आसन पर सत्कारपूर्वक बिठाल कर, खान, पान आदि उत्तमोत्तम पदार्थों से सेवा शुश्रूषा कर के, उन को प्रसन्न करे। पश्चात् सत्सङ्ग कर उन से ज्ञान विज्ञान आदि जिन से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति होवे ऐसे-ऐसे उपदेशों का श्रवण करे और चाल चलन भी उनके सदुपदेशानुसार रक्खे। समय पाके गृहस्थ और राजादि भी अतिथिवत् सत्कार करने योग्य हैं। परन्तु–

पाषण्डिनो विकर्मस्थान् वैडालवृत्तिकान् शठान्।
हैतुकान् वकवृत्तींश्च वाङ्मात्रेणापि नार्चयेत्॥ मनु०॥

(पाषण्डी) अर्थात् वेदनिन्दक, वेदविरुद्ध आचरण करनेहारे (विकर्मस्थ) जो वेदविरुद्ध कर्म का कर्त्ता मिथ्याभाषणादि युक्त, वैडालवृत्तिक जैसे विड़ाला छिप और स्थिर होकर ताकता-ताकता झपट से मूषे आदि प्राणियों को मार अपना पेट भरता है वैसे जनों का नाम वैडालवृत्ति, (शठ) अर्थात् हठी, दुराग्रही, अभिमानी, आप जानें नहीं, औरों का कहा मानें नहीं, (हैतुक) कुतर्की व्यर्थ बकने वाले जैसे कि आजकल के वेदान्ती बकते हैं 'हम ब्रह्म और जगत् मिथ्या है वेदादि शास्त्र और ईश्वर भी कल्पित हैं' इत्यादि गपोड़ा हांकने वाले (वकवृत्ति) जैसे वक एक पैर उठा ध्यानावस्थित के समान होकर झट मच्छी के प्राण हरके अपना स्वार्थ सिद्ध करता है वैसे आजकल के वैरागी और खाखी आदि हठी दुराग्रही वेदविरोधी

हैं, ऐसों का सत्कार वाणीमात्र से भी न करना चाहिये। क्योंकि इनका सत्कार करने से ये वृद्धि को पाकर संसार को अधर्मयुक्त करते हैं। आप तो अवनति के काम करते ही हैं परन्तु साथ में सेवक को भी अविद्यारूपी महासागर में डुबा देते हैं।

इन **पांच महायज्ञों का फल** यह है कि ब्रह्मयज्ञ के करने से विद्या, शिक्षा, धर्म, सभ्यता आदि शुभ गुणों की वृद्धि।

अग्निहोत्र से वायु, वृष्टि, जल की शुद्धि होकर वृष्टि द्वारा संसार को सुख प्राप्त होना अर्थात् शुद्ध वायु का श्वास, स्पर्श, खान पान से आरोग्य, बुद्धि, बल, पराक्रम बढ़ के **धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का अनुष्ठान पूरा होना।** इसीलिये इस को देवयज्ञ कहते हैं।

पितृयज्ञ से जब माता पिता और ज्ञानी महात्माओं की सेवा करेगा तब उस का ज्ञान बढ़ेगा। उस से सत्यासत्य का निर्णय कर सत्य का ग्रहण और असत्य का त्याग करके सुखी रहेगा। दूसरा कृतज्ञता अर्थात् जैसी सेवा माता पिता और आचार्य ने सन्तान और शिष्यों की की है उसका बदला देना उचित ही है।

बलिवैश्वदेव का भी फल जो पूर्व कह आये, वही है।

जब तक उत्तम अतिथि जगत् में नहीं होते तब तक उन्नति भी नहीं होती। उनके सब देशों में घूमने और सत्योपदेश करने से पाखण्ड की वृद्धि नहीं होती और सर्वत्र गृहस्थों को सहज से सत्य विज्ञान की प्राप्ति होती रहती है और मनुष्यमात्र में एक ही धर्म स्थिर रहता है। विना अतिथियों के सन्देहनिवृत्ति नहीं होती। सन्देहनिवृत्ति के विना दृढ़ निश्चय भी नहीं होता। निश्चय के विना सुख कहां?—

ब्राह्मे मुहूर्त्ते बुध्येत धर्मार्थौ चानुचिन्तयेत्।
कायक्लेशाँश्च तन्मूलान् वेदतत्त्वार्थमेव च॥ मनु०॥

रात्रि के चौथे प्रहर अथवा चार घड़ी रात से उठे। आवश्यक कार्य करके धर्म और अर्थ, शरीर के रोगों का निदान और परमात्मा का ध्यान करे। कभी अधर्म का आचरण न करे। क्योंकि—

नाधर्मश्चरितो लोके सद्यः फलति गौरिव।
शनैरावर्त्तमानस्तु कर्त्तुर्मूलानि कृन्तति॥ मनु०॥

किया हुआ अधर्म निष्फल कभी नहीं होता परन्तु जिस समय अधर्म करता है उसी समय फल भी नहीं होता। इसलिये अज्ञानी लोग अधर्म से नहीं डरते। तथापि निश्चय जानो कि वह अधर्माचरण धीरे-धीरे तुम्हारे सुख के मूलों को काटता चला जाता है। इस क्रम से—

अधर्मेणैधते तावत्ततो भद्राणि पश्यति।
ततः सपत्नाञ्जयति समूलस्तु विनश्यति॥ मनु०॥

जब अधर्मात्मा मनुष्य धर्म की मर्यादा छोड़ (जैसे तालाब के बन्ध तोड़ जल चारों ओर फैल जाता है वैसे) मिथ्याभाषण, कपट, पाखण्ड अर्थात् रक्षा करने वाले वेदों का खण्डन और विश्वासघातादि कर्मों से पराये पदार्थों को लेकर प्रथम बढ़ता है। पश्चात् धनादि ऐश्वर्य से खान, पान, वस्त्र, आभूषण, यान, स्थान, मान, प्रतिष्ठा को प्राप्त होता है। अन्याय से शत्रुओं को भी जीतता है, पश्चात् शीघ्र नष्ट हो जाता है। जैसे जड़ काटा हुआ वृक्ष नष्ट हो जाता है वैसे अधर्मी नष्ट भ्रष्ट हो जाता है।

सत्यधर्मार्यवृत्तेषु शौचे चैवारमेत् सदा।
शिष्यांश्च शिष्याद्धर्मेण वाग्बाहूदरसंयतः॥ मनु०॥

वेदोक्त सत्य धर्म अर्थात् पक्षपातरहित होकर सत्य के ग्रहण और असत्य के परित्याग न्यायरूप वेदोक्त धर्मादि, आर्य अर्थात् उत्तम पुरुषों के गुण, कर्म, स्वभाव और पवित्रता ही में सदा रमण करे। वाणी, बाहू, उदर आदि अङ्गों का संयम अर्थात् धर्म में चलाता हुआ धर्म से शिष्यों को शिक्षा किया करे।

ऋत्विक्पुरोहिताचार्य्यैर्मातुलातिथिसंश्रितैः।
बालवृद्धातुरैर्वैद्यैर्ज्ञातिसम्बन्धिबान्धवैः॥ १॥
मातापितृभ्यां यामिभिर्भ्रात्रा पुत्रेण भार्यया।
दुहित्रा दासवर्गेण विवादं न समाचरेत्॥ २॥ मनु०॥

(ऋत्विक्) यज्ञ का करनेहारा, (पुरोहित) सदा उत्तम चाल चलन की शिक्षा कारक, (आचार्य) विद्या पढ़ानेहारा, (मातुल) मामा, (अतिथि) अर्थात् जिस की कोई आने जाने की निश्चित तिथि न हो (संश्रित) अपने आश्रित (बाल) बालक (वृद्ध) बुड्ढे (आतुर) पीड़ित (वैद्य) आयुर्वेद का ज्ञाता, (ज्ञाति) स्वगोत्र वा स्ववर्णस्थ, (सम्बन्धी) श्वशुर आदि, (बान्धव) मित्र॥ १॥ (माता) माता, (पिता) पिता, (यामि) बहिन, (भ्राता) भाई, (पुत्र) पुत्र, (भार्या) स्त्री, (दुहिता) पुत्री और सेवक लोगों से विवाद अर्थात् विरुद्ध लड़ाई बखेड़ा कभी न करे॥ २॥

अतपास्त्वनधीयानः प्रतिग्रहरुचिर्द्विजः।
अम्भस्यश्मप्लवेनैव सह तेनैव मज्जति॥ २॥ मनु०॥

एक (अतपाः) ब्रह्मचर्य्य सत्यभाषणादि तपरहित, दूसरा (अनधीयानः) विना पढ़ा हुआ, तीसरा (प्रतिग्रहरुचिः) अत्यन्त धर्मार्थ दूसरों से दान लेनेवाला, ये तीनों पत्थर की नौका से समुद्र में तरने के समान अपने दुष्ट कर्मों के साथ ही दुःखसागर में डूबते हैं। वे तो डूबते ही हैं परन्तु दाताओं को साथ डुबा लेते हैं।

त्रिष्वप्येतेषु दत्तं हि विधिनाप्यर्जितं धनम्।
दातुर्भवत्यनर्थाय परत्रादातुरेव च॥ मनु०॥

जो धर्म से प्राप्त हुए धन का उक्त तीनों को देना है वह दानदाता का नाश इसी जन्म और लेनेवाले का नाश परजन्म में करता है।

जो वे ऐसे हों तो क्या हो—

यथा प्लवेनौपलेन निमज्जत्युदके तरन्।
तथा निमज्जतोऽधस्तादज्ञौ दातृप्रतीच्छकौ॥ मनु०॥

जैसे पत्थर की नौका में बैठ के जल में तरने वाला डूब जाता है वैसे अज्ञानी दाता और ग्रहीता दोनों अधोगति अर्थात् दुःख को प्राप्त होते हैं।

पाखण्डियों के लक्षण

धर्मध्वजी सदा लुब्धश्छाद्मिको लोकदम्भकः।
वैडालव्रतिको ज्ञेयो हिंस्रः सर्वाभिसन्धकः॥ १॥
अधोदृष्टिर्नैष्कृतिकः स्वार्थसाधनतत्परः।
शठो मिथ्याविनीतश्च वकव्रतचरो द्विजः॥ २॥ मनु०॥

(धर्मध्वजी) धर्म कुछ भी न करे परन्तु धर्म के नाम से लोगों को ठगे (सदा लुब्धः) सर्वदा लोभ से युक्त (छाद्मिकः) कपटी (लोकदम्भकः) संसारी मनुष्यों के सामने अपनी बड़ाई के गपोड़े मारा करे (हिंस्त्रः) प्राणियों का घातक, अन्य से वैरबुद्धि रखनेवाला (सर्वाभिसन्धकः) सब अच्छे और बुरों से भी मेल रक्खे उस को वैडालव्रतिक अर्थात् विडाल के समान धूर्त्त और नीच समझो॥ १॥ (अधोदृष्टिः) कीर्ति के लिये नीचे दृष्टि रक्खे (नैष्कृतिकः) ईर्ष्यक किसी ने उस का पैसा भर अपराध किया हो तो उसका बदला लेने को प्राण तक तत्पर रहै (स्वार्थसाधनतत्परः) चाहै कपट अधर्म विश्वासघात क्यों न हो; अपना प्रयोजन साधने में चतुर (शठः) चाहै अपनी बातें झूठी क्यों न हों परन्तु हठ कभी न छोड़े (मिथ्याविनीतः) झूठ मूँठ ऊपर से शील सन्तोष और साधुता दिखलावे उस को (वकव्रत) बगुले के समान नीच समझो। ऐसे-ऐसे लक्षणों वाले पाखण्डी होते हैं, उन का विश्वास व सेवा कभी न करें॥ २॥

धर्मं शनैः सञ्चिनुयाद् वल्मीकमिव पुत्तिकाः।
परलोकसहायार्थं सर्वलोकान्यपीडयन्॥ १॥
नामुत्र हि सहायार्थं पिता माता च तिष्ठतः।
न पुत्रदारं न ज्ञातिर्धर्मस्तिष्ठति केवलः॥ २॥
एकः प्रजायते जन्तुरेक एव प्रलीयते।
एको नु भुङ्क्ते सुकृतमेक एव च दुष्कृतम्॥ ३॥
एकः पापानि कुरुते फलं भुङ्क्ते महाजनः।
भोक्तारो विप्रमुच्यन्ते कर्त्ता दोषेण लिप्यते॥ ४॥
मृतं शरीरमुत्सृज्य काष्ठलोष्ठसमं क्षितौ।
विमुखा बान्धवा यान्ति धर्मस्तमनुगच्छति॥ मनु०॥

स्त्री और पुरुष को चाहिये कि जैसे पुत्तिका अर्थात् दीमक वल्मीक अर्थात् बांबी को बनाती है वैसे सब भूतों को पीड़ा न देकर परलोक अर्थात् परजन्म के सुखार्थ धीरे-धीरे धर्म का सञ्चय करे॥ १॥ क्योंकि परलोक में न माता न पिता न पुत्र न स्त्री न ज्ञाति सहाय कर सकते हैं किन्तु एक धर्म ही सहायक होता है॥२॥ देखिये अकेला ही जीव जन्म और मरण को प्राप्त होता, एक ही धर्म का फल सुख और अधर्म का जो दुःख रूप फल उस को भोगता है॥ ३॥ यह भी समझ लो कि कुटुम्ब में एक पुरुष पाप करके पदार्थ लाता है और महाजन अर्थात् कुटुम्ब उस को भोक्ता है। भोगनेवाले दोषभागी नहीं होते किन्तु अधर्म का कर्त्ता ही दोष का भागी होता है॥ ४॥ जब कोई किसी का सम्बन्धी मर जाता है उस को मट्टी के ढेले के समान भूमि में छोड़ कर पीठ दे बन्धुवर्ग विमुख होकर चले जाते हैं। कोई उसके साथ जानेवाला नहीं होता किन्तु एक धर्म ही उस का सङ्गी होता है॥ ५॥

तस्माद्धर्मं सहायार्थं नित्यं सञ्चिनुयाच्छनैः।
धर्म्मेण ही सहायेन तमस्तरति दुस्तरम्॥ १॥
धर्मप्रधानं पुरुषं तपसा हतकिल्विषम्।
परलोकं नयत्याशु भास्वतं खशरीरिणम्॥ २॥ मनु०॥

उस हेतु से परलोक अर्थात् परजन्म में सुख और इस जन्म के सहायतार्थ नित्य धर्म का सञ्चय धीरे-धीरे करता जाय क्योंकि धर्म ही के सहाय से बड़े-बड़े

दुस्तर दुःखसागर को जीव तर सकता है॥ १॥ किन्तु जो पुरुष धर्म ही को प्रधान समझता है जिस का धर्म के अनुष्ठान से कर्त्तव्य पाप दूर हो गया उस को प्रकाशस्वरूप और आकाश जिस का शरीरवत् है उस परलोक अर्थात् परमदर्शनीय परमात्मा को धर्म ही शीघ्र प्राप्त कराता है॥ २॥ इसलिये—

दृढकारी मृदुर्दान्तः क्रूराचारैरसंवसन्।
अहिंस्रो दमदानाभ्यां जयेत्स्वर्गं तथा व्रतः॥ १॥
वाच्यर्था नियताः सर्वे वाङ्मूला वाग्विनिःसृताः।
तां तु यः स्तेनयेद्वाचं स सर्वस्तेयकृन्नरः॥ २॥
आचाराल्लभते ह्यायुराचारादीप्सिताः प्रजाः।
आचाराद्धनमक्षय्यमाचारो हन्त्यलक्षणम्॥ ३॥ मनु०॥

सदा दृढ़कारी, कोमल स्वभाव, जितेन्द्रिय, हिंसक, क्रूर, दुष्टाचारी पुरुषों से पृथक् रहनेहारा धर्मात्मा मन को जीत और विद्यादि दान से सुख को प्राप्त होवे॥ १॥ परन्तु यह भी ध्यान में रक्खें कि जिस वाणी में सब अर्थ अर्थात् व्यवहार निश्चित होते हैं वह वाणी ही उन का मूल और वाणी ही से सब व्यवहार सिद्ध होते हैं उस वाणी को जो चोरता अर्थात् मिथ्याभाषण करता है वह सब चोरी आदि पापों का करने वाला है॥ २॥ इसलिये मिथ्याभाषणादिरूप अधर्म को छोड़ जो धर्माचार अर्थात् ब्रह्मचर्य जितेन्द्रियता से पूर्ण आयु और धर्माचार से उत्तम प्रजा तथा अक्षय धन को प्राप्त होता है तथा जो धर्माचार में वर्त्तकर दुष्ट लक्षणों का नाश करता है; उसके आचरण को सदा किया करे॥ ३॥ क्योंकि—

दुराचारो हि पुरुषो लोके भवति निन्दितः।
दुःखभागी च सततं व्याधितोऽल्पायुरेव च॥ मनु०॥

जो दुष्टाचारी पुरुष है वह संसार में सज्जनों के मध्य में निन्दा को प्राप्त दुःखभागी और निरन्तर व्याधियुक्त होकर अल्पायु का भी भोगनेहारा होता है। इसलिये ऐसा प्रयत्न करे—

यद्यत्परवशं कर्म तत्तद्यत्नेन वर्जयेत्।
यद्यदात्मवशं तु स्यात्तत्तत्सेवेत यत्नतः॥ १॥
सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम्।
एतद्विद्यात्समासेन लक्षणं सुखदुःखयोः॥ २॥ मनु०॥

जो-जो पराधीन कर्म हो उस-उस का प्रयत्न से त्याग और जो जो स्वाधीन कर्म हो उस-उस का प्रयत्न के साथ सेवन करे॥ १॥

क्योंकि जो-जो पराधीनता है वह-वह सब दुःख और जो-जो स्वाधीनता है वह-वह सब सुख यही संक्षेप से सुख और दुःख के लक्षण जानना चाहिये॥२॥

परन्तु जो एक दूसरे के आधीन काम है वह-वह आधीनता से ही करना चाहिये जैसा कि स्त्री और पुरुष का एक दूसरे के आधीन व्यवहार। अर्थात् स्त्री पुरुष का और पुरुष स्त्री का परस्पर प्रियाचरण अनुकूल रहना व्यभिचार वा विरोध कभी न करना। पुरुष की आज्ञानुकूल घर के काम स्त्री और बाहर के काम पुरुष के आधीन रहना, दुष्ट व्यसन में फँसने से एक दूसरे को रोकना अर्थात् यही निश्चय जानना।

जब विवाह होवे तब स्त्री के हाथ पुरुष और पुरुष के हाथ स्त्री बिक चुकी

अर्थात् जो स्त्री और पुरुष के साथ हाव, भाव, नखशिखाग्रपर्यन्त जो कुछ हैं वह वीर्यादि एक दूसरे के आधीन हो जाता है।

स्त्री वा पुरुष प्रसन्नता के विना कोई भी व्यवहार न करें। इन में बड़े अप्रियकारक व्यभिचार, वेश्या, परपुरुषगमनादि काम हैं। इन को छोड़ के अपने पति के साथ स्त्री और स्त्री के साथ पति सदा प्रसन्न रहैं।

जो ब्राह्मणवर्णस्थ हों तो पुरुष लड़कों को पढ़ावे तथा सुशिक्षिता स्त्री लड़कियों को पढ़ावे। नानाविध उपदेश और वक्तृत्व करके उन को विद्वान् करें। स्त्री का पूजनीय देव पति और पुरुष की पूजनीय अर्थात् सत्कार करने योग्य देवी स्त्री है।

जब तक गुरुकुल में रहैं तब तक माता पिता के समान अध्यापकों को समझें और अध्यापक अपने सन्तानों के समान शिष्यों को समझें। पढ़ानेहारे अध्यापक और अध्यापिका कैसे होने चाहिये–

आत्मज्ञानं समारम्भस्तितिक्षा धर्मनित्यता।
यमर्था नापकर्षन्ति स वै पण्डित उच्यते॥ १॥
निषेवते प्रशस्तानि निन्दितानि न सेवते।
अनास्तिकः श्रद्दधान एतत्पण्डितलक्षणम्॥ २॥
क्षिप्रं विजानाति चिरं शृणोति, विज्ञाय चार्थं भजते न कामात्।
नासम्पृष्टो ह्युपयुङ्क्ते परार्थे, तत्प्रज्ञानं प्रथमं पण्डितस्य॥ ३॥
नाप्राप्यमभिवाञ्छन्ति नष्टं नेच्छन्ति शोचितुम्।
आपत्सु च न मुह्यन्ति नराः पण्डितबुद्धयः॥ ४॥
प्रवृत्तवाक् चित्रकथ ऊहवान् प्रतिभानवान्।
आशु ग्रन्थस्य वक्ता च यः स पण्डित उच्यते॥ ५॥
श्रुतं प्रज्ञानुगं यस्य प्रज्ञा चैव श्रुतानुगा।
असम्भिन्नार्यमर्यादः पण्डिताख्यां लभेत सः॥ ६॥

–ये सब महाभारत उद्योगपर्व विदुरप्रजागर के श्लोक हैं।

अर्थ–जिस को आत्मज्ञान सम्यक् आरम्भ अर्थात् जो निकम्मा आलसी कभी न रहै; सुख दुःख, हानि लाभ, मानापमान, निन्दा स्तुति में हर्ष शोक कभी न करे; धर्म ही में नित्य निश्चित रहै; जिस के मन को उत्तम-उत्तम पदार्थ अर्थात् विषय सम्बन्धी वस्तु आकर्षण न कर सकें वही पण्डित कहाता है॥ १॥

सदा धर्मयुक्त कर्मों का सेवन; अधर्मयुक्त कामों का त्याग; ईश्वर, वेद, सत्याचार की निन्दा न करनेहारा; ईश्वर आदि में अत्यन्त श्रद्धालु हो; वही पण्डित का कर्त्तव्याकर्त्तव्य कर्म है॥ २॥

जो कठिन विषय को भी शीघ्र जान सके; बहुत कालपर्य्यन्त शास्त्रों को पढ़े सुने और विचारे; जो कुछ जाने उस को परोपकार में प्रयुक्त करे; अपने स्वार्थ के लिये कोई काम न करे; विना पूछे वा विना योग्य समय जाने दूसरे के अर्थ में सम्मति न दे। वही प्रथम प्रज्ञान पण्डित को होना चाहिये॥ ३॥

जो प्राप्ति के अयोग्य की इच्छा कभी न करे; नष्ट हुए पदार्थ पर शोक न करे; आपत्काल में मोह को न प्राप्त अर्थात् व्याकुल न हो वही बुद्धिमान् पण्डित है॥ ४॥

जिस की वाणी सब विद्याओं और प्रश्नोत्तरों के करने में अतिनिपुण; विचित्र शास्त्रों के प्रकरणों का वक्ता; यथायोग्य तर्क और स्मृतिमान्; ग्रन्थों के यथार्थ अर्थ का शीघ्र वक्ता हो वही पण्डित कहाता है॥ ५॥

जिस की प्रज्ञा सुने हुए सत्य अर्थ के अनुकूल और जिस का श्रवण बुद्धि के अनुसार हो जो कभी आर्य अर्थात् श्रेष्ठ धार्मिक पुरुषों की मर्यादा का छेदन न करे वही पण्डित संज्ञा को प्राप्त होवे॥ ६॥

जहां ऐसे-ऐसे स्त्री पुरुष पढ़ाने वाले होते हैं वहां विद्या धर्म और उत्तमाचार की वृद्धि होकर प्रतिदिन आनन्द ही बढ़ता रहता है।

पढ़ाने में अयोग्य और मूर्ख के लक्षण—

अश्रुतश्च समुन्नद्धो दरिद्रश्च महामनाः।
अर्थांश्चाऽकर्मणा प्रेप्सुर्मूढ इत्युच्यते बुधैः॥ १॥
अनाहूतः प्रविशति ह्यपृष्टो बहु भाषते।
अविश्वस्ते विश्वसिति मूढचेता नराधमः॥ २॥

—ये श्लोक भी महाभारत उद्योग पर्व विदुरप्रजागर के हैं।

अर्थ—जिस ने कोई शास्त्र न पढ़ा न सुना अतीव घमण्डी, दरिद्र होकर बड़े-बड़े मनोरथ करनेहारा, विना कर्म से पदार्थों की प्राप्ति की इच्छा करने वाला हो, उसी को बुद्धिमान् लोग मूढ़ कहते हैं॥ १॥

जो विना बुलाये सभा वा किसी के घर में प्रविष्ट हो उच्च आसन पर बैठना चाहै; विना पूछे सभा में बहुत सा बके; विश्वास के अयोग्य वस्तु वा मनुष्य में विश्वास करे वही मूढ़ और सब मनुष्यों में नीच मनुष्य कहाता है॥ २ ॥

जहां ऐसे पुरुष अध्यापक, उपदेशक, गुरु और माननीय होते हैं वहां अविद्या, अधर्म, असभ्यता, कलह, विरोध और फूट बढ़ के दुःख ही बढ़ता जाता है।

अब विद्यार्थियों के लक्षण—

आलस्यं मदमोहौ च चापल्यं गोष्ठिरेव च।
स्तब्धता चाभिमानित्वं तथाऽत्यागित्वमेव च।
एते वै सप्त दोषाः स्युः सदा विद्यार्थिनां मताः॥ १॥
सुखार्थिनः कुतो विद्या कुतो विद्यार्थिनः सुखम्।
सुखार्थी वा त्यजेद्विद्यां विद्यार्थी वा त्यजेत्सुखम्॥ २॥

ये भी विदुरप्रजागर के श्लोक हैं।

(आलस्य) शरीर और बुद्धि में जड़ता, नशा, मोह=किसी वस्तु में फंसावट, चपलता और इधर-उधर की व्यर्थ कथा करना सुनना, पढ़ते पढ़ाते रुक जाना, अभिमानी, अत्यागी होना ये सात दोष विद्यार्थियों में होते हैं॥ १॥ जो ऐसे होते हैं उन को विद्या कभी नहीं आती।

सुख भोगने की इच्छा करने वाले को विद्या कहां? और विद्या पढ़ने वाले को सुख कहां? क्योंकि विषयसुखार्थी विद्या को और विद्यार्थी विषयसुख को छोड़ दे॥ २॥

ऐसे किये विना विद्या कभी नहीं हो सकती। और ऐसे को विद्या होती है—

सत्ये रतानां सततं दान्तानामूर्ध्वरेतसाम्।
ब्रह्मचर्यं दहेद्राजन् सर्वपापान्युपासितम्॥ १॥

अश्वालम्भं गवालम्भं संन्यासं पलपैत्रिकम्।
देवराच्च सुतोत्पत्तिं कलौ पञ्च विवर्जयेत्॥ २॥
नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लीबे च पतिते पतौ।
पञ्चस्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयते॥ ३॥

ये कपोलकल्पित पाराशरी के श्लोक हैं।

जो दुष्ट कर्मकारी द्विज को श्रेष्ठ और श्रेष्ठ कर्मकारी शूद्र को नीच मानैं तो इस से परे पक्षपात, अन्याय, अधर्म दूसरा अधिक क्या होगा? क्या दूध देने वाली वा न देने वाली गाय गोपालों को पालनीय होती है, वैसे कुम्हार आदि को गधही पालनीय नहीं होती? और यह दृष्टान्त भी विषम है, क्योंकि द्विज और शूद्र मनुष्य जाति गाय और गधही भिन्न जाति हैं। कथञ्चित् पशु जाति से दृष्टान्त का एकदेश दार्ष्टान्त में मिल भी जावे तो भी इसका आशय अयुक्त होने से ये श्लोक विद्वानों के माननीय कभी नहीं हो सकते।। १।।

जब अश्वालम्भ अर्थात् घोड़े को मार के अथवा गाय को मार के होम करना ही वेदविहित नहीं है तो उसका कलियुग में निषेध करना वेदविरुद्ध क्यों नहीं? जो कलियुग में इस नीच कर्म का निषेध माना जाय तो त्रेता आदि में विधि आ जाय तो इस में ऐसे दुष्ट काम का श्रेष्ठ युग में होना सर्वथा असम्भव है। और संन्यास की वेदादि शास्त्रों में विधि है उस का निषेध करना निर्मूल है। जब मांस का निषेध है तो सर्वदा ही निषेध है। जब देवर से पुत्रोत्पत्ति करनी वेदों में लिखी है तो यह श्लोककर्ता क्यों भूंषता है?॥ २॥

यदि (नष्टे) अर्थात् पति किसी देश देशान्तर को चला गया हो घर में स्त्री नियोग कर लेवे उसी समय विवाहित पति आ जाय तो वह किस की स्त्री हो? कोई कहे कि विवाहित पति की। हम ने माना; परन्तु ऐसी व्यवस्था पाराशरी में नहीं लिखी। क्या स्त्री के पांच ही आपत्काल हैं? जो रोगी पड़ा हो वा लड़ाई हो गई हो इत्यादि आपत्काल पांच से भी अधिक हैं। इसलिये ऐसे-ऐसे श्लोकों को कभी न मानना चाहिये॥ ३॥

(प्रश्न) क्यों जी तुम पराशर मुनि के वचन को भी नहीं मानते?

(उत्तर) चाहे किसी का वचन हो परन्तु वेदविरुद्ध होने से नहीं मानते। और यह तो पराशर का वचन भी नहीं है क्योंकि जैसे **'ब्रह्मोवाच, वसिष्ठ उवाच, राम उवाच, शिव उवाच, विष्णुरुवाच, देव्युवाच'** इत्यादि श्रेष्ठों का नाम लिख के ग्रन्थरचना इसलिये करते हैं कि सर्वमान्य के नाम से इन ग्रन्थों को सब संसार मान लेवे और हमारी पुष्कल जीविका भी हो। इसलिये अनर्थ गाथायुक्त ग्रन्थ बनाते हैं। **कुछ-कुछ प्रक्षिप्त श्लोकों को छोड़ के मनुस्मृति ही वेदानुकूल है, अन्य स्मृति नहीं।** ऐसे ही अन्य जालग्रन्थों की भी व्यवस्था समझ लो।

(प्रश्न) गृहाश्रम सब से छोटा वा बड़ा है?

(उत्तर) अपने-अपने कर्त्तव्यकर्मों में सब बड़े हैं। परन्तु—

यथा नदीनदाः सर्वे सागरे यान्ति संस्थितिम्।
तथैवाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम्॥ १॥
यथा वायुं समाश्रित्य वर्त्तन्ते सर्वजन्तवः।
तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्त्तन्ते सर्व आश्रमाः॥ २॥

यस्मात्त्रयोऽप्याश्रमिणो दानेनान्नेन चान्वहम्।
गृहस्थेनैव धार्य्यन्ते तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही॥ ३॥
स सन्धार्य्यः प्रयत्नेन स्वर्गमक्षयमिच्छता।
सुखं चेहेच्छता नित्यं योऽधार्यो दुर्बलेन्द्रियैः॥ ४॥ मनु०॥

जैसे नदी और बड़े-बड़े नद तब तक भ्रमते ही रहते हैं जब तक समुद्र को प्राप्त नहीं होते, वैसे गृहस्थ ही के आश्रय से सब आश्रम स्थिर रहते हैं॥ १॥ विना इस आश्रम के किसी आश्रम का कोई व्यवहार सिद्ध नहीं होता॥ २॥ जिस से ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ और संन्यासी तीन आश्रमों को दान और अन्नादि देके प्रतिदिन गृहस्थ ही धारण करता है इससे गृहस्थ ज्येष्ठाश्रम है, अर्थात् सब व्यवहारों में धुरन्धर कहाता है॥ ३॥ इसलिये जो (अक्षय) मोक्ष और संसार के सुख की इच्छा करता हो वह प्रयत्न से गृहाश्रम का धारण करे। जो गृहाश्रम दुर्बलेन्द्रिय अर्थात् भीरु और निर्बल पुरुषों से धारण करने के अयोग्य है उसको अच्छे प्रकार धारण करे॥४॥

इसलिये जितना कुछ व्यवहार संसार में है उस का आधार गृहाश्रम है। जो यह गृहाश्रम न होता तो सन्तानोत्पत्ति के न होने से ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम कहां से हो सकते? जो कोई गृहाश्रम की निन्दा करता है वही निन्दनीय है और जो प्रशंसा करता है वही प्रशंसनीय है। परन्तु तभी गृहाश्रम में सुख होता है जब स्त्री पुरुष दोनों परस्पर प्रसन्न, विद्वान्, पुरुषार्थी और सब प्रकार के व्यवहारों के ज्ञाता हों। इसलिये गृहाश्रम के सुख का मुख्य कारण ब्रह्मचर्य और पूर्वोक्त स्वयंवर विवाह है।

यह संक्षेप से समावर्त्तन विवाह और गृहाश्रम के विषय में शिक्षा लिख दी। इसके आगे वानप्रस्थ और संन्यास के विषय में लिखा जायेगा।

इति श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिकृते सत्यार्थप्रकाशे
सुभाषाविभूषिते समावर्त्तनविवाहगृहाश्रमविषये
चतुर्थः समुल्लासः सम्पूर्णः॥ ४॥